प्रेम के स्वर
First 27 letters published, but remaining to be included in next edition.

(ओशो द्वारा कपिल-कुसुम को लिखे गए 27 पत्रों का संकलन)

अंतर्वस्तु

1. हृदय में परमात्मा की गहरी प्यास
2. प्रेम असंभव को भी संभव बना देता है
3. तुम दोनों को मेरा बहुत सारा काम करना है
4. गीत की कड़ियां सुनाई पड़ती हैं
5. उसके प्रेम का सागर अनंत है
6. मौन की भी अपनी भाषा है
7. बेशर्त प्रेम ही तो उसे पाने की शर्त है
8. मैं ठहरा अगृही..इसलिए याद कर रहा हूं
9. शब्द से मुक्ति ही सत्य है
10. तैरना नहीं है, बस बहना है
11. तू प्यास ही बनती जा रही है
12. प्रतीक्षा की करता रहा
13. उसकी करुणा की वर्षा तो होगी ही
14. इधर मैं मिटा, उधर वह हुआ
15. जिन खोजा तिन पाइयां
16. पदार्थ में परमात्मा मिलता है
17. आकार ही निराकार हो जाता है
18. खाली ही, रिक्त हो, शून्य बन
19. प्रभु की यात्रा सीढ़ियों की नहीं है
20. ध्यान जारी रखना
21. संसार ही निर्वाण
22. शब्द सत्यों के धोखे बन जाते हैं
23. तेरा सारा अस्तित्व ही सागर में है
24. वही है, वही है..सब ओर वही है
25. स्वनिर्मित कारागृह में कैद आदमी
26. संकल्प से हिमालय भी झुक जाता है
27. जीवन नृत्य है
28 - 68 To Be Published in Next Coming Edition

1. हृदय में परमात्मा की गहरी प्यास

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तुझे पत्र लिखना है, इसकी याद रोज ही आ जाती है।
यह मुझे ज्ञात है कि तेरे हृदय में परमात्मा की गहरी प्यास है।
तेरी आंखों में उसी प्यास और प्रार्थना के दर्शन मुझे हुए हैं।
वही तू कहना भी चाहती थी, लेकिन नहीं कह सकी।
हृदय की गहराइयों में जो हैं, उसे शब्द देना सदा ही कठिन है।
अब जब मिलेगी तो जरूर कह सकेगी।
नहीं, तो मैं निकाल लूंगा।
कपिलमोहन को पाकर तू निश्चय ही भाग्यवान है।
और अब सोनी को पाकर और भी।
और एक दिन उस प्रभु को भी पा सकेगी, जिसे पाकर सब पा लिया जाता है।
सोनी के लिए मैंने नाम दिया है: असंग।
उसके नाम से तुझे और कपिल हो असंग होने का ख्याल बना रहेगा।
शेष शुभ।
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

25-4-1969

2. प्रेम असंभव को भी संभव बना देता है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरा प्यारा पत्र पाकर बहुत आनंदित हूं।
मैं सोच भी नहीं सकता था कि तू इतने थोड़े-से शब्दों में इतने फूल भर सकती है।
प्रेम, असंभव को भी संभव बना देता है।
प्रभु ने तेरी प्रार्थना भी सुन ली है और मैं चंडीगढ़ की जगह 3, 4, 5 अगस्त अब लुधियाना ही जा रहा हूं।
वहां तो तुझे मेरी सेवा में ही रहना होगा न!
लुधियाना में सत्संग का संयोजन कर रहे हैं श्री जी. बी. एस. गिल, सीनियर सुपरिण्टेण्डेण्ट ऑफ पुलिस। वे चंडीगढ़ से स्थानांतरित हो लुधियाना आ गए हैं। उनसे मिल लेना। और लुधियाना के अपने मित्रों को भी खबर कर देना।
कपिलमोहन और असंग को प्रेम।
शेष शुभ।
तेरे पत्र की प्रतीक्षा करता रहता हूं।
2-7-1969

3. तुम दोनों को मेरा बहुत सारा काम करना है

प्यारे कपिल,
प्रेम। मैं कुसुम के लिए चिंतित हूं। तुमने डाक्टर को दिखा ही लिया होगा।
उसने क्या कहा है, लिखना।
उसके और अपने शरीर का ध्यान रखना।
तुम दोनों को मेरा बहुत सारा काम करना है।
वहां सबको मेरे प्रणाम कहना।
कुसुम और असंग को प्रेम

4. गीत की कड़ियां सुनाई पड़ती हैं

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरे गीत की कड़ियां राह भर मुझे सुनाई पड़ती हैं।
और तेरा चेहरा भी दिखाई पड़ता रहता है।
दवा और भोजन ठीक से लेना।
मैं चिंतित हूं।

7-8-1969

5. उसके प्रेम का सागर अनंत है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। गुजरात के प्रवास से लौटते ही तेरा पत्र ढूंढा है। बहुत से पत्र हैं।
ढूंढता हूं..ढ़ूंढता हूं..ढ़ूंढ़ता हूं...
और सोचता हूं कि क्या तेरा पत्र नहीं है?
नहीं...इतनी कठोर तो तू नहीं है?
नहीं, सच ही तू कठोर नहीं है।
तेरा पत्र है। लेकिन, पत्रों के ढेर में अंतिम।
प्रथम आया होगा इसलिए अंतिम है।
प्रथम होने के भी अपने खतरे हैं।
यह क्या लिखा है कि कहीं प्यास प्यास ही न रह जाए? नहीं...पागल।
प्रभु की प्यास कभी भी प्यास ही नहीं रही है।
उसके प्रेम का सागर अनंत है।
और बस प्यास हो कि उसकी प्राप्ति के द्वार खुल जाते हैं।
कपिल और असंग को प्रेम।

पुनश्च तेरी भेजी बनियानें मिल गई हैं।
मैं श्रीनगर में शाही चश्मे पर बने काटेजेज में ठहर रहा हूं।
और 17 सितंबर को दिल्ली से 11 बजे चलने वाले प्लेन से 1 बजे दोपहर श्रीनगर पहुंचूगा। तू तो श्रीनगर एअरपोर्ट पर ही मिल रही है न?

24-8-1969

6. मौन की भी अपनी भाषा है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरा पत्र। मैं जानता हूं कि कितना तू कहना चाहता है, और नहीं कह पाती
है।
जीवन में जो भी सत्य है, सुंदर है, उसे कहना सदा ही कठिन है।
और प्रेम से ज्यादा न तो कुछ और सत्य ही है, न सुंदर ही।
लेकिन तेरे न कहने में भी बहुत कुछ कह ही दिया जाता है।
मौन की भी अपनी भाषा है।
और सारी भाषाओं से ज्यादा समर्थ।
और तू उसमें अति-कुशल है।
तेरे अनकहे शब्द मुझ तक पहुंच जाते हैं।
और तेरे अनगाए गीत भी।
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

30-8-1969

8. मैं ठहरा अगृही..इसलिए याद कर रहा हूं

प्यारी कुसुम,
प्रेम। राह देख रहा हूं और तेरा कोई पत्र नहीं है?
तू उलझ गई होगी अपनी गृहस्थी में!
मैं ठहरा अगृही...इसलिए याद कर रहा हूं...याद कर रहा हूं...याद कर रहा हूं। क्रांति के लिए दवा लिखना तू भूल गई सो जल्द लिख भेजना।
कपिल के लिए प्रेम।
असंग के लिए आशीष।

9. शब्द से मुक्ति ही सत्य है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरे हृदय की भांति ही सरल और कुंआरा पत्र पाकर अति आनंदित हूं।
वह तू लिखना चाहता है जो कि लिखा ही नहीं जा सकता है, इसलिए अनलिखा पत्र ही भेज देती है।
यह भी ठीक ही है, क्योंकि जो न कहा जा सके, उस संबंध में मौन ही उचित है।
लेकिन ध्यान रहे कि मौन भी मुखर है।
वह भी कहता है और बहुत कहता है।
शब्द जिसे नहीं कह पाते हैं, मौन उसे भी कह पाता है।
रेखाएं जिसे नहीं घेर पाती हैं, शून्य उसे भी घेर लेता है।
असल में शून्य से अनघिरा बच ही क्या सकता है?
मौन से अनकहा भी कुछ नहीं बचता है।
शब्द जहां व्यर्थ है, निःशब्द नहीं सार्थक है।
आकार की जहां सीमा है, निराकार का वहीं प्रारंभ है।
इसलिए वेद का जहां अंत है, वेदांत का वहीं जन्म है।
वेद की मृत्यु ही वेदांत है।
शब्द से मुक्ति ही सत्य है।
कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

3-11-1969

10. तैरना नहीं है, बस बहना है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। मैं प्रवास से लौटा हूं तो तेरे पत्र मिले हैं।
भूमि में पड़ा बीज जैसे वर्षा की प्रतीक्षा करता है, ऐसे ही तू प्रभु की प्रतीक्षा करती है।
प्रार्थना और प्रतीक्षापूर्ण समर्पण ही उसका द्वार भी है।
स्वयं को पूर्णतया छोड़ दे...ऐसे जैसे कि कोई नाव नदी में बहती है।
पतवार नहीं चलाना है, बस नाव को छोड़ देना है।
तैरना नहीं है...बस बहना है।
फिर तो नदी स्वयं ही सागर तक पहुंचा देती है।
सागर तो अति निकट है, लेकिन उन्हीं के लिए जो तैरते नहीं, बहते हैं।
और डूबने का भय मत रखना, क्योंकि फिर उसी से तैरने का जन्म हो जाता है।
सच तो यह है कि प्रभु में जो डूबता है, वह सदा के लिए उबर जाता है।
और कहीं पहुंचते ही आकांक्षा भी मत रखना।
क्योंकि जो कहीं पहुंचना चाहता है, वह तैरने लगता है।
सदा ध्यान रखना कि जहां पहुंच गए वहीं मंजिल है।
इसलिए जो प्रभु को मंजिल बनाते हैं, वे भटक जाते हैं।
सब मंजिलों से मुक्त होते ही चेतना जहां पहुंच जाती है, वहीं परमात्मा है।
कपिल हो प्रेम। असंग को आशीष।

19-11-1969

11. तू प्यास ही बनती जा रही है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरे सब पत्र मिल गए हैं-वे भी जो तू भेजती है, और वे भी जो तू नहीं भेजती है।
आह, प्रभु के लिए तेरी व्याकुलता कैसी तीव्र है?
ऐसी व्याकुलता से ही तो किसी मीरा का जन्म होता है।
उसके मंदिर के द्वार पर दी गई दस्तकें मुझे भलीभांति सुनाई पड़ रही हैं।
उसके मंदिर का कोना-कोना भी तेरी निःशब्द पुकार से गूंज रहा है।
उसके मंदिर की सीढ़ियां भी तेरे आंसुओं की वर्षा में धुल गई हैं।
तू प्यास ही बनती जा रही है। तू प्रार्थना ही बनती जा रही है।
और तभी उसके द्वार खुलते हैं, जब पुकारने वाला पूरी तरह मिट जाता है और बस पुकार ही शेष रह जाती है।
उसके द्वार तो खुलेंगे ही। लेकिन उसके पूर्व प्रार्थी को मिट जाना पड़ता है।
प्रार्थी का होना ही प्रार्थना में सबसे बड़ी बाधा है।
शायद, उसके द्वार तो खुले ही हैं, लेकिन प्रेमी की मौजूदगी में वे बंद दिखाई पड़ते हैं।
आह, क्या प्रेमी ही प्रियतम के मिलन में अवरोध नहीं है?
फिर प्रत्येक चीज को पकने का भी एक समय है।
प्रेम भी पकता है, प्रार्थना भी पकती है।
उनके पकते ही प्रेमी खो जाता है।
और तब तक है प्रतीक्षा और प्रतीक्षा और प्रतीक्षा।
निश्चय ही तू पूछेगी कि प्रतीक्षा का क्या अर्थ है? प्रतीक्षा का अर्थ है: धैर्यपूर्ण अधैर्य।
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

29-11-1969

12. प्रतीक्षा ही करता रहा

प्यारी कुसुम,

प्रेम। मैं तो बंबई तेरी प्रतीक्षा ही करता रहा।
लगता है इस बार सोनू जीत गया।
कपिल पहुंच गए होंगे और मेरा प्रेम भी तुझ तक पहुंचा दिया होगा।
अब तो लगता है कि तू जनवरी में भावनगर ही मिल सकेगी।
कपिल से भावनगर आने के बात हुई है।
भावनगर में 16, 17, 18, 19 जनवरी की सत्संग है।
शेष शुभ।
तेरे पत्र को आए बहुत देर हो गई है।
जल्दी लिख।
सोनू अब कैसा है?
कपिल को प्रेम। सोनू को आशीष।

2-12-1969

113. उसकी करुणा की वर्षा तो होगी ही

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरा पत्र मिल गया है।
गर्मी के बाद जैसे धरती वर्षा के लिए प्यास होती है, ऐसे ही तू प्रभु के लिए प्यासी है।
यह प्यास ही तो उसकी बदलियों के लिए निमंत्रण बन जाती हैं।
और निमंत्रण पहुंच गया है।
तू तो बस ध्यान में डूबती जा।
उसकी करुणा की वर्षा तो होगी ही।
बस इधर हम तैयार भर हों...वह तो उधर सदा ही तैयार है।
देख...क्या आकाश में उसकी बदलियां नहीं मंडराने लगी हैं? कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

16-2-1970

14. इधर मैं मिटा, उधर वह हुआ

प्यारी कुसुम,
प्रेम।
खोज...खोज...और खोज।
इतना कि अंततः खोजते-खोजते स्वयं ही खो जावें।
बस वही बिंदु उसके मिलन का है।
इधर मैं मिटा, उधर वह हुआ।
‘मैं’ के अतिरिक्त और कोई दीवार न कभी थी, न है।
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

8-4-1970

15. जिन खोजा तिन पाइयां

प्यारी कुसुम,
प्रेम। फूल हैं और भी...जो वृक्षों पर नहीं खिलते हैं।
वरन लिखते हैं प्राणों में।
सुगंधें और भी हैं...जो फूलों से नहीं बहती हैं। वरन बहती हैं प्राणों से।
अज्ञात है उसके जड़ें, अज्ञात हैं उनके उद्गम-स्रोत, अज्ञात हैं उनके आवागमन के
पथ।
पर जो मौन में..शून्य में..स्वयं में खोजते हैं, उनके लिए सब ज्ञात हो जाता है।
प्रशांत में वैसी गहराई नहीं है। और न ही गौरीशंकर में वैसी ऊंचाई है।
जैसी स्वयं में डूबने में है। गहराई भी और ऊंचाई भी।

और एक ही साथ। लेकिन मेरी मत मनाना।
मैं हूं ही कौन? और किसी की भी मत मानना।
क्योंकि जो मान कर जीता है, वह तट पर ही रह जाता है।
तट पर नहीं...जो है, वह डूबने में है। डूब और जान।
ऐसा न हो कि कभी कहना पड़े।
जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।
मैं बोरी डूबत डरी, रही किनारे बैठ।
नहीं...लेकिन, ऐसा मौका नहीं ही आएगा।
क्योंकि, मैंने तुझे धक्का दे देने का तय ही कर लिया है।
कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।
25-4-1970

16. पदार्थ में परमात्मा मिलता है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। अंधेरा है, आंधियां हैं, अंधापन है।
मनुष्य जैसे इन सबका जोड़ है।
लेकिन, आशा है परिवर्तन की...आमूल रूपांतरण की।
और आशा अंधेरे से भी बड़ी है, आंधियों से भी शक्तिशाली है, अंधेपन से भी गहरी
है।
मनुष्य की जड़ें तो अंधेरे में हैं।
पर जड़ें तो सभी अंधेरे में ही होती है।
लेकिन, जड़ें अंत नहीं, आरंभ ही हैं।
अंत तो सदा फूलों पर ही होता है।
वृक्षों में ही नहीं, मनुष्यों में भी तो फूल लगते हैं।
ऐसे फूलों की तलाश ही धर्म है।
दृश्य में अदृश्य की तलाश...वास्तविक में संभावना की तलाश ही धर्म है।
खोजो तो सीमा में असीम मिलता है।
खोजो तो रूप में अरूप मिलता है।
खोजा तो पदार्थ में परमात्मा मिलता है।
सीमित या साकार कहीं है नहीं।
वह तो बस न खोजने वाले चित्त की भ्रांति है।
कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

1-5-1970

17. आकार ही निराकार हो जाता है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। एक ऐसा संगीत भी है, जहां कि स्वर नहीं है।
प्राण उस स्वर-शून्य संगीत के लिए ही आतुर है।
एक ऐसा प्रेम भी है, जहां कि शरीर नहीं है।
प्राण उस शरीर-मुक्त प्रेम के लिए ही आतुर है।
ऐसा ऐसा सत्य भी है, जहां कि आकार नहीं है।
प्राण उस निराकार सत्य के लिए ही आतुर है।
इसलिए, स्वरों से तृप्ति नहीं होती है।
इसलिए, शरीरों से संतोष नहीं होता है।
इसलिए, आकार से आत्मा नहीं भरती है।
लेकिन, इस अतृप्ति, इस असंतोष को ठीक से पहचानना आवश्यक है।
क्योंकि, वह पहचान ही अंततः अतिक्रमण (टरंसेंडेंस) बनती है।
फिर स्वर ही स्वरशून्यता का द्वार बन जाता है।
और शरीर ही अशरीर का मार्ग बन जाता है।
और आकार ही निराकार हो जाता है।
कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

13-5-1970

18. खाली हो, रिक्त हो, शून्य बन

प्यारी कुसुम,
प्रेम। जैसे आकाश शून्य है, ऐसे ही शून्य होना है।
भीतर भी आकाश चाहिए।
लेकिन, वहां हम भरे हैं। यह भरावट ही बाधा है।
इसलिए कहता हूं: खाली हो, रिक्त हो, शून्य बन।
क्योंकि, शून्यता ही पूर्णता के लिए द्वार है।
खोल द्वार और देख कि द्वार पर कौन खड़ा है।
प्रभु वहां से सदा ही प्रतीक्षा करते हैं।
लेकिन हम हैं अपने में व्यस्त।
छोड़ स्वयं को। जाग स्वयं से। अव्यस्त हो।
और फिर वह अतिथि क्षणभर भी बाहर नहीं रुकता है।
अव्यस्तता में ही उसका आगमन है।
इसलिए, अव्यस्त चित्त को ही मैं ध्यान कहता हूं।
ध्यान में हो अर्थात कुछ न कर।
ध्यान अर्थात न-करने में होना।
और फिर उस न-करने में हो सब कुछ हो जाता है।
कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

17-5-1970

19. प्रभु की यात्रा सीढ़ियों की नहीं है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। द्वार तो खुलेंगे ही।
लेकिन, खटखटा..जोर से, पूरी शक्ति से।
अपने को जरा भी बचाना नहीं है।
दांव ही लगाना है तो पूरा लगा।
समग्र, संपूर्ण।
दांव लगानेवाला भी दांव के पीछे न बचे।
दांव के साथ वह भी दांव पर हो। तभी द्वार खुलते हैं।
स्वयं को पूरा दिए बिना प्रभु का पाना नहीं है...नहीं है।
इसे ठीक से समझ लेना है।
फिर तो घटना एक क्षण में ही घट जाती है।
शायद क्षण भी ज्यादा है। क्षण के भी करोड़वें भाग में घट जाती है।
क्योंकि प्रभु की यात्रा सीढ़ियों की यात्रा नहीं है।
वह अक्रमिक (ग्रैजुअल) नहीं है।
वह तो छलांग (जंप) जैसी है।
बस उसमें तो एक ही कदम काफी है। वह अक्रमिक (सडन) है।
इसलिए ही तो वह अभी (नाओ) और यहीं (हीरो) घट सकती है।
कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

10-6-1970

20. ध्यान जारी रखना

प्यारी कुसुम,
प्रेम। तेरा पत्र मिला है।
ध्यान तो जारी रखा है न?
जारी रखना।
ताकि, अगस्त में मैं जब आऊं तो और गति हो सके।
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

26-6-1970

21. संसार ही निर्वाण

प्यारी कुसुम,
प्रेम। संसार ही निर्वाण।
ध्वनि मात्र है मंत्र।
और, प्राणिमात्र परमात्मा।
बस सब कुछ स्वयं की दृष्टि पर निर्भर है।
दृष्टि के अतिरिक्त सृष्टि और कुछ भी नहीं है।
देखो-आंखें खोलो और देखो।
अंधकार कहां है?
आलोक ही है।
मृत्यु कहां है?
अमृत्व ही है।
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

17-11-1970

22. शब्द सत्यों के धोखे बन जाता है

प्यारी कुसुम,
प्रेम।
सत्य क्या है?
परिभाषा में जो आ जाता है, कम से कम वह नहीं है।
इसलिए परिभाषाएं छोड़ो।
व्याख्याएं छोड़ो। व्याख्याएं मन के खेल हैं।
व्याख्याएं विचार का सृजन है।
और जो है, वह मन के पार है।
उसे विचार स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं।
जैसे, लहरें झील की शांति से सदा अपरिचित रहती हैं, ऐसे विचार भी अस्तित्व से
कभी परिचित नहीं हो पाते हैं, क्योंकि जब लहरें होती हैं, तब उनके ही कारण झील शांत नहीं होती है। और जब झील शांत होती है, तब उसकी शांति के कारण ही लहरें नहीं होती हैं।
फिर, जो है, उसे जानना है।
उसकी व्याख्या उसे जानने से बहुत भिन्न बात है।
लेकिन, व्याख्या धोखा दे सकती है।
खेतों में जैसे धोखे के आदमी खड़े रहते हैं, असली आदमियों के वस्त्र पहनकर, ऐसे
ही शब्द सत्यों के धोखे बन जाते हैं।
सत्य के खोजी को शब्दों से सावधान होने की जरूरत है।
शब्द सत्य नहीं है। सत्य शब्द नहीं है।
सत्य है अनुभूति। सत्य है अस्तित्व।
और उस तक पहुंचने का मार्ग है: नेति, नेति; न यह, न वह।
व्याख्याओं को काटो। परिभाषाओं को काटो।
शास्त्रों को काटो। सिद्धांतों को काटो।
कहो: नेति, नेति।
फिर स्व-पर को काटो।
कहो: नेति, नेति।
और तब...निपट शून्य में जो प्रकट होता है, वही सत्य है।
क्योंकि, बस वही है और शेष सब स्वप्न है।
पुनश्चः कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

26-11-1970

23. तेरा सारा अस्तित्व ही सागर में है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। एक मछली ने एक दिन मछलियों की रानी से पूछा: ‘मैं सदा से सागर के संबंध
में सुनती आ रही हूं, पर यह सागर है क्या? और है भी या नहीं? और है तो कहां है? ’ मछलियों की रानी हंसी और बोलीः ‘पागल तो सागर में ही जीती है, तैरती है, श्वास लेती है...तेरा सारा अस्तित्व ही सागर में है। सागर ही तेरे भीतर है सागर ही तेरे बाहर है, सागर से ही तू जन्मी है, सागर से ही तू निर्मित है और अंततः सागर में ही लीन हो जाना तेरी नियति है।’
मछली ने सुना, पर शायद सुना नहीं।
मनुष्य ही कहां सुनता है! ...सो वह तो थी बेचारी मछली।
या सुना भी तो मछली कुछ समझी नहीं! मनुष्य ही कहां समझता है?
उसने चारों ओर देखा..पर सागर कहीं दिखाई नहीं पड़ा।
सोचा, शायद सागर अदृश्य है!
आह! मछलियां भी कितना मनुष्यों जैसा सोचती हैं?
और फिर यह सोचा कि शायद मैं अपात्र हूं और इसलिए ही सागर से मिलन नहीं होता है।
और मैं सोचता हूं कि वह मछली थी या मनुष्य?
तुझसे भी पूछता हूं। तू भी बता: वह मछली थी या मनुष्य?
पुनश्चः कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

16-1-1971

24. वही है, वही है..सब ओर वही है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। बांसुरी ही किसी की..गीत उस एक के ही है।
दिए हैं किसी के..ज्योति बस एक की ही है।
इसलिए बांस की पोंगरियों को भूल..और स्मरण रख पार के संगीत को ही।
मिट्टी के दीयों को विस्मरण कर..और ध्यान दे सदा उस ज्योतिर्मय पर ही।
फिर तुझे पक्षियों के गीतों में भी भगवदगीता सुनाई पड़ेगी।
और मोर के स्वरों में भी उपनिषद के महाकाव्य ध्वनित होते दिखाई पड़ेंगे।
फिर तू आकाश में पाएगी उसका विस्तार।
और पृथ्वी पर उसके ही पद-चिह्न।
कण-कण में उसकी ही छवि।
और क्षण-क्षण में उसके ही हस्ताक्षर।
बस माध्यमों को भूल।
उपकरणों को ध्यान से हटा।
और फिर निराकार से आकारों की झीनी सी ओट अनायास ही गिर जाती है।

25-2-1971

25. स्वनिर्मित कारागृह में कैद आदमी

प्यारी कुसुम,
प्रेम। सूर्य है सदा द्वार पर।
पर आदमी की आंखें हैं बंद।
आकाश सी स्वतंत्रता है चारों ओर।
पर आदमी है कि स्वनिर्मित कारागृहों में कैद है।
पंख हैं पास में कि उड़ान भरी जा सके तारों तक।
पर अज्ञात में स्वयं को छोड़ने का साहस लुप्त है।

7-3-1971

26. संकल्प से हिमालय भी झुक जाता है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। यात्रा है अनंत।

माना।
पर एक-एक बूंद से सागर भर जाता है।
यात्रा है कठिन।
माना।
पर मनुष्य के छोटे से हृदय में उठे संकल्प से हिमालय भी तो झुक जाता है।
पुनश्च
कपिल को प्रेम।
असंग को आशीष।

8-3-1971

27. जीवन नृत्य है

प्यारी कुसुम,
प्रेम। आकाश से थोड़ा तालमेल बढ़ा।
आंखों को विराट को पीने दे।
दिन हो या रात..जब भी मौका मिले, आकाश पर ध्यान कर।
आकाश को उतरने दो हृदय में।
शीघ्र ही बीच से परदा उठने लगेगा।
भीतर और बाहर का आकाश आलिंगन करने लगेगा।
स्वयं को मिटने में इससे सहायता मिलेगी।
अहं के विसर्जन में इससे मार्ग बनेगा।
और यदि अनायास हो आकाश पर ध्यान करते-करते तन-मन नृत्य को आतुर हो उठे तो स्वयं
को रोकना नहीं..नाचना।
हृदयपूर्वक नाचना।
पागल होकर नाचना।
उस नृत्य से जीवन-रूपांतरण की अनूठी कुंजी हाथ लग जाती है।
क्योंकि नृत्य ही है अस्तित्व।
अस्तित्व के होने का ढंग ही नृत्यमय है।
अणु-परमाणु नृत्य में लीन हैं..ऊर्जा अनंत रूपों में नृत्य कर रही है।
जीवन नृत्य है।
पुनश्चः कपिल को प्रेम। असंग को आशीष।

13-3-1971

28. प्रेम के फूल

मैं देखता हूं कि मनुष्य का मन अतियों में जीता है। घड़ी के पेंडुलम की भांति
ही उसकी गति है। वह मध्य में कभी नहीं ठहरता। एक ‘अति’ से दूसरी ‘अति’..यही उसका यात्रा-पथ है, और अति, दुख की जननी है। अति, चिंता और तनाव पैदा करती है। अति स्वयं से बाहर जाना है, क्योंकि अति, साम्य को, समता को खोना है। स्वयं में ठहरने की भूमिका समता है। स्वयं में होना समता में हुए बिना संभव नहीं। समता अंतर्गमन का द्वार है। अति बहिर्गमन का। अति ही विषमता है। समता स्वास्थ्य है। विषमता अस्वास्थ्य। किंतु मनुष्य चित्त अस्वस्थ ही रहना चाहता है क्योंकि अस्वास्थ्य में ही उसका जीवन है, स्वास्थ्य की दिशा में गति तो उसकी मृत्यु को ही आमंत्रण है। इसलिए एक अति से ऊब जाता है, तो वह तत्क्षण दूसरी अति के प्रति आकर्षित हो जाता है। विराम का अवसर वह नहीं देता। अंतराल को क्षण भर भी रिक्त छोड़ने की भूल वह नहीं करता। रिक्तता उसके लिए संधातक है। तनाव की स्थिति सदा ही बनी रहे यही उसके लिए शुभ है। वह सदा दौड़ता रहे, दौड़ता ही रहे, यही उसके लिए प्राणदायी है। क्योंकि ठहरते ही, रुकते ही उसके दर्शन होते हैं जो कि आत्मा है। और आत्मा को पाने पर चित्त वैसे ही नहीं पाया जाता है, जैसे कि सूर्योदय होने पर रात्रि नहीं पाई जाती।
रात्रि कुछ संन्यासियों के बीच था। उन्हें देखता था। उनके चित्त को देखता था। उनकी क्रियाओं को देखता था। वे सब कभी गृहस्थ थे। उस जीवन के विरोध और प्रतिक्रिया में अब वे संन्यासी हैं। उस जीवन को अब उन्होंने सब भांति उलटा कर लिया है। चित्त

वही है, लेकिन दिशा विरोधी है। भोग छोड़ा तो त्याग को पकड़ लिया। धन छोड़ा तो दरिद्रता को पकड़ लिया। तब संसार की खोज में जाते थे, अब संसार से भागे जा रहे हैं। अति बदल गई है, किंतु अति फिर भी वहीं की वहीं है।
एक मित्र हैं। वे कहते हैं: ‘स्त्री नरक का द्वार है।’ यह भी मैं जानता हूं कि
कभी वे मानते थे कि स्त्री के अतिरिक्त और कोई स्वर्ग नहीं है। पहले वे स्त्री के लिए लड़ते थे, अब स्त्री से लड़ते हैं। किंतु उनके चित्त का केंद्र आज भी स्त्री बनी हुई है। काम (सेक्स)की ओर जावें या काम के विरोध में, दोनों ही स्थितियों में चित्त काम वासना पर ही घूमता रहता है। काम के विरोध में काम से मुक्ति नहीं है। जो स्त्री को स्वर्ग मानता है, वह तो कामुक है ही, जो उसे नरक मानता है वह भी कामुक ही है।
शरीर के भोग में ही जाने वाले व्यक्ति हैं, और शरीर को पीड़ा देकर आनंद अनुभव करने वाले व्यक्ति भी हैं। किंतु स्मरण रहे कि दोनों ही देहवादी हैं। शरीर भोग ही उलटा होकर शरीर-योग बन जाता है। इंद्रिया-भोग ही इंद्रिय-दमन बन जाता है। चेतना दोनों ही अतियों में शरीर के तट से बंधी रहती है। इस भांति आत्मा की यात्रा न कभी हुई है, और न कभी हो ही सकती है।
राग से विराग की अति पर चले जाना ज्ञान नहीं है।
सुख से दुख की अति पर चले जाना संन्यास नहीं है।
सत्य द्वंद्व में और अतियों के चुनाव में नहीं, वरन संयम में और समता में है।
जीवन का रहस्य और उसे खोलने की कुंजी संयम है; संयम यानी चित्त की अतियों से मुक्ति। अतियों से मुक्त होना, चित्त से ही मुक्त हो जाना है।
एक धनपति युवक था: श्रोण। वह अपूर्व रूप, से सुंदर था। उसके वीरबहूटी से लाल
तथा नवनीत से कोमल तलवे थे। उसके उन सुंदर तलवों पर मुलायम बाल भी उगे हुए थे। सम्राट बिंबिसार तक को उसे और उसके तलवों को देखने का कुतूहल हुआ था। श्रोण का जीवन वैभव-भोग में ही बीतता था। सुख ही सुख के सागर में वह तैरता था। किंतु फिर भी उसका चित्त शांत न था। आंनद के लिए वह भी लालायित था। जीवन अर्थ के ओर-छोर की खोज उसके मन को भी पीड़ित करती थी। धीरे-धीरे उसका चित्त सुखों से भी ऊब गया। सुख की संवेदनाएं भी बोथली हो गईं। धन, वैभव और भोग सब नीरस हो आया। ऊब की इसी चित्त-दशा में उसने बुद्ध के दर्शन किए और उनकी वाणी सुनी। उसके हृदय में नई अनुभूतियों की आशा जगी। वह विरक्त हो गया और उसने तप का मार्ग अपना लिया। चित्त ने भोग की प्रतिक्रिया में, विरोध में, दमन की दिशा सुझाई। वह भांति-भांति से शरीर को कष्ट देने लगा। मन बहुत अदभुत है। वही भोग की नई-नई विधियां खोजता है। वही शरीर-दमन और उत्पीड़न के नये-नये आविष्कार करता है। कामसूत्र भी वही रचता है, आत्म-हिंसक तपश्चर्या के मार्ग भी वही खोजता है। अतियों की खोज के लिए वह सदा ही अति-उत्सुक है। श्रोण भी आत्म-उत्पीड़न में लग गया। शरीर के घोर दमन में वह रस लेने लगा। भिक्षु साफ-सुथरे मार्गों पर चलते तो वह कुश-कंटकों से भरी भूमि पर ही चलता। शीत-ताप में शरीर को सताता। भूख-प्यास में शरीर को सताता। उसकी सुंदर देह सूख कर काली पड़ गई। उसके कोमल तलवों में घाव बन गए और रक्त बहने लगा। उसका शरीर अशक्त और रुग्ण हो गया। वह तपस्वी जो हो गया था!
एक दिन बुद्ध तथाकथित तपस्वी श्रोण के पास गए। उसकी दशा देख उन्हें दया आनी स्वाभाविक ही थी। उन्होंने उससे बहुत प्रेम से पूछा: श्रोण! तूने कभी वीणा बजाई है? श्रोण को स्मरण आया। वह तो वीणा बजाने में बहुत कुशल था। उसने कहा: हां, भंते! तब बुद्ध ने पूछा: क्या तार बहुत ढीले हों तो उनसे संगीत पैदा होता है? श्रोण बोला: नहीं भंते! और यदि तार बहुत कसे हों तो? श्रोण ने कहा: तब भी नहीं, भंते! फिर संगीत कब पैदा होता है? यह सुन श्रोण जैसे निद्रा से जाग गया। उसकी आंखों से एक नशा विलीन हो गया। वह बोला: भंते, वीणा के तारों से संगीत का जन्म तभी होता है, जब वे न तो अति ढीले हों और न अति कसे हों। उस सूक्ष्म संतुलन में ही संगीत पैदा होता है। बुद्ध ने कहा: फिर श्रोण, स्मरण रख कि जीवन के संगीत का भी नियम यही है।
जीवन संगीत में हो, तो ही सत्य की अनुभूति होती है।
समता, संतुलन, और संयम से संगीत पैदा होता है। चित्त अतियों में होता है तो विसंगति में होता है। वह जैसे ही अतियों के, द्वंद्वों के मध्य में ठहरता है, वैसे ही संगीत को पा लेता है। इस संगीत में आना ही स्वयं में आना है वही स्वास्थ्य है। वही सत्य है। वही धर्म है।

29.

एक मंदिर के द्वार से निकल रहा था। देखा, सैकड़ों व्यक्ति भीतर आ-जा रहे हैं।
मैं भी एक कोने में रुक गया और उनकी बातें सुनने लगा। परमात्मा को छोड़ कर वे और सारी बातें कर रहे थे। उनकी आंखों में न तो प्रेम था, न प्रार्थना थी। फिर वे क्यों मंदिर

में जा रहे थे? वे किसे धोखा दे रहे थे? क्या संसार को और स्वयं को धोखा देते देते उन्होंने परमात्मा को भी धोखा देने का साहस कर डाला था?
स्मरण करता हूं तो बहुत-से मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों की याद मुझे आती
है। उनमें जाने वालों के चेहरे भी मेरी आंखों के सामने घूमने लगते हैं। लेकिन फिर बहुत आश्चर्य होता है। जीवन भर प्रभु के मंदिरों की यात्रा करने वालों में से कितने उसके मंदिर की सीढ़ियां चढ़ पाते हैं? क्या इन मंदिरों से उसका मंदिर बहुत बहुत दूर नहीं है?
मनुष्य का हृदय ही जब तक परमात्मा का मंदिर न बने, तब तक किसी भी मंदिर में उसका प्रवेश नहीं हो सकता है।
प्रेम ही जब तक प्रार्थना न बने तब तक कोई प्रार्थना प्रार्थना नहीं हो सकती
है।
सत्य की जब तक स्वयं ही अनुभूति न हो तब तक शास्त्र क्या करेंगे? शब्द क्या करेंगे? सिद्धांत क्या करेंगे?
संसार भर में खोजने पर अंत में ज्ञात होता है कि वह तो स्वयं में ही है।
सत्य स्वयं में है। धर्म स्वयं में है। जो उसे स्वयं में नही खोजता है, वह व्यर्थ खोजता है,
उसकी सब खोज मिथ्या है। उसका धर्म, उसके शास्त्र, उसकी प्रार्थना, उसकी पूजा, उसका परमात्मा सब झूठे हैं।
वह परमात्मा के मंदिरों में नहीं, अपनी ही वासना के घरों में आता-जाता है। वह प्रार्थना के मौन में नहीं, अपनी ही आकांक्षाओं के शब्द-जाल में भटकता है। उसकी आंखें उसके स्वार्थ के क्षितिज से कभी ऊपर नहीं उठतीं और उसके हृदय में परमात्मा की नहीं, उसकी अपनी अहंता की ही मूर्ति सदा प्रतिष्ठित रहती है।
एक गांव में नानक का आगमन हुआ था। वे तो धर्म की बात करते थे, हिंदू और मुसलमान
की नहीं। उनका तो परमात्मा से वास्ता था, मस्जिद और मंदिर से नहीं। उस गांव के नवाब ने उससे कहा: आपके लिए तो मस्जिद और मंदिर बराबर है, तो क्या आप आज मेरे साथ मस्जिद में नमाज पढ़ने को तैयार हैं? नानक ने बहुत आनंदित होकर कहा: जरूर, जरूर! परमात्मा की प्रार्थना में सम्मिलित होने से बड़ा आनंद और क्या है? फिर, नवाब, काजी और गांव के बहुत-से लोग मस्जिद गए। सभी नानक की नमाज देखना चाहते थे। मस्जिद में पहुंच कर काजी और नवाब और उनके साथी नमाज अदा करने लगे किंतु नानक एक कोने में खड़े ही गए और चुपचाप उनकी ओर देखने लगे। उनको इस भांति खड़ा देख कर नवाब और काजी को बहुत क्रोध आने लगा। वे बीच बीच में नानक की ओर क्रोध से देख भी लेते थे। फिर किसी भांति जल्दी-जल्दी उन्होंने नमाज पूरी की और सब नानक पर टूट पड़े। वे नानक को धोखेबाज और वचन तोड़ने वाला कहने लगे। नवाब ने क्रोध से आंखें लाल करके नानक को डांटा और कहा: आपने नमाज क्यों नहीं की? आप नमाज में सम्मिलित क्यों नहीं हुए? नानक यह सब देख खूब हंसने लगे और बोले: मैं तो नमाज में सम्मिलित होने आया था, लेकिन जब आपने ही नमाज नहीं पढ़ी तो मैं चुपचाप दूर खड़ा आपके खेल को देखता रहा। और करता भी क्या? आप सबका ध्यान तो मेरी ओर था। परमात्मा की ओर तो किसी का भी ध्यान नहीं था। यह कैसी इबादत? यह कैसी प्रार्थना? परमात्मा के निकट इस भांति कैसे हुआ जा सकता है?
मैं भी मंदिरों के, मस्जिदों के, गिरजों के कोनों में खड़े होकर देखता रहा हूं।
और जो देखा, उससे ज्यादा असत्य मनुष्य के जीवन में और कुछ भी नहीं पाया। जब धर्म ही असत्य हो तो शेष सब अपने-आप ही असत्य हो जाता है। मनुष्य का सब कुछ असत्य हो गया है क्योंकि उसका परमात्मा असत्य है, उसकी प्रार्थना असत्य है। परमात्मा जीवन का आधार है और केंद्र है, और यदि वही असत्य है तो फिर और क्या सत्य हो सकता है?

30.

सूर्य ऊपर चढ़ आया है। कैसी अग्नि बरस रही है! आलोक ही आलोक है। लेकिन यदि कोई आंखें बंद किए हो तो उसे तो अंधकार ही होगा। छोटी सी पलकें सारे जगत को अंधकार में डुबाने में समर्थ हैं।
मैं यह सोचता ही था कि एक मित्र आ गए हैं। पुराने परिचित हैं। जीवन-सत्य की खोज
के लिए वर्षों से पागल हैं। जीवन तो निकट है, लेकिन वे उसे दूर खोज आए हैं। वस्तुतः खोज ही उसकी हो सकती है जो दूर हो। निकट को क्या खोजना? जो हम स्वयं हैं, उसे तो खोजेंगे ही कैसे? वहां तो जिसे खोजना है और जो खोज रहा है, उन दोनों में इतना अवकाश ही नहीं है कि खोज हो सके। इससे अक्सर जो खोजते हैं, वे और भी दूर निकल जाते हैं, और जो जीवन को जीते हैं, वे खोज लेते हैं। जीवन को उसकी समग्रता में जीना ही, उसे जानना भी है।
जीवन सत्य की खोज की ओट में जीवन से पलायान ही छिपा होता है। जहां पलायन है, वहां ज्ञान असंभव है। ज्ञान निष्क्रिय उपलब्धि नहीं है। वह तो सतत संघर्ष का फल है।

सत्य कोई ऐसी बात नहीं है कि जीवन से दूर बैठ कर सीखी जा सके। वह तो जीवन के अहर्निश साक्षात से ही निष्पन्न होने वाली आत्म-क्रांति है।
सत्य पलायन में नहीं, संघर्ष में है।
सत्य जीवन से दूर जाने में नहीं, जीवन में ही है। वस्तुतः कोई जीवन से दूर जा
ही कैसे सकता है? दूर जाने का धोखा ही ओढ़ा जा सकता है, लेकिन दूर जाया नहीं जा सकता है। जीवन तो श्वास-श्वास में है। उससे भागने वाला भाग कर कहां जाएगा? वह जहां भी होगा, जीवन वहीं है। सागर की मछली कितना ही भागे, सागर में ही भागेगी, सागर से दूर जाना तो असंभव ही है!
जीवन में जिन्होंने नहीं खोजा, वे धीरे-धीरे शास्त्रों को, शब्दों को, सिद्धांतों को ही सत्य मान लेते हैं। सत्य की जगह सिद्धांत ही पकड़ कर तृप्ति कर ली जाती है। शास्त्र इस भांति एक वास्तविक अभाव के भ्रांति-पूरक सिद्ध होते हैं। भीतर अभाव बना रहता है, लेकिन ऊपर से सीख लिए शब्दों से उस अभाव को और उसकी पीड़ा को स्वयं की ही आंखों से छिपा लिया जाता है। अपने अज्ञान को उधार ज्ञान से छिपा लेने से अधिक आसान और हो भी क्या सकता है? ज्ञान के बिना ही ज्ञान निश्चय ही बड़ी आसान बात है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान तो जीवंत तप से ही मिलना संभव है।
मैं आए हुए मित्र की बातें सुन रहा हूं। सत्य तो नहीं, सिद्धांत ही सिद्धांत उनमें हैं।
कोरे सिद्धांत कितना मृत बोझ होते हैं? जैसे कोई कब्रस्तान में जाए और वहां कब्रें ही कब्रें दिखाई पड़ें, ऐसे ही तथाकथित ज्ञानियों का मस्तिष्क होता है। मृत शब्द ही वहां आवास किए होते हैं।
शास्त्रों के उच्छिष्ट को उन्होंने इतना पचा लिया है कि वही उनके मस्तिष्क की मज्जा बन गया है। बासे और मृत सिद्धांत ही उनके रक्त में प्रवाहित होने लगे हैं। अब जब उनसे भीतर से शास्त्र ही बोलते हैं, तो भी उन्हें लगता है कि वे स्वयं बोल रहे हैं। इस भांति शास्त्र जीवित, और वे स्वयं और उनकी प्रज्ञा मृत हो गई है। किंतु दूसरों के विचारों में स्वयं के विवेक को खो देने की भूल उतनी ही प्राचीन है, जितना कि प्राचीन मनुष्य है। यह आश्चर्यजनक है किंतु सत्य है कि सत्य के तथाकथित आकांक्षी अक्सर ही शब्दों से ही तृप्त हो जाते हैं। स्मृति ही उन्हें ज्ञान का धोखा दे देती है, और अपनी प्यास को वे पानी के संबंध में सीखे सिद्धांतों से ही परितृप्त कर लेते हैं।
निश्चय ही यह तथ्य प्यास के वास्तविक न होने का प्रतीक है, क्योंकि वास्तविक प्यास वास्तविक पानी के अतिरिक्त और किसी चीज से नहीं बुझ सकती। झूठा पानी जिस प्यास को बुझा दे, वह प्यास-प्यास ही न रही होगी। प्यास तो पानी मांगती है, पानी के संबंध में शास्त्र नहीं। लेकिन, सत्य के प्यासे जब सिद्धांतों से ही संतुष्ट हो जाते हों, तो क्या यह मानना उचित न होगा कि वस्तुतः वे प्यासे ही नहीं थे!
जीवन को जीना अग्नि से गुजरना है। अनुभव बड़ी पीड़ा से उपलब्ध होते हैं। उनके
लिए मूल्य चुकाना होता है। फिर जो उनसे गुजरते समय जागरूक और सचेत होता है, वही केवल उनके सार और अर्थ को निचोड़ कर ज्ञान को प्राप्त कर पाता है। मात्र अनुभव भी पर्याप्त नहीं है। मूच्र्छित और बेहोश रह कर उनसे निकल भी जाना किसी सार्थकता तक नहीं पहुंचता। जो जाग कर अपने अनुभवों को जीता है, वही जीवन का अर्थ जान पाता है। ज्ञान की उपलब्धि का जीवन को जागरूक रह कर जीने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। लेकिन जो इस लंबे अग्नि-पथ से बचना चाहता हो वह शास्त्रों में पलायन कर सकता है। वह शब्दों को ही सत्य मान कर रुक जा सकता है। शास्त्र और शब्द व्यक्ति को स्वयं जीने और जानने के कष्ट से बचा देते हैं। लेकिन फिर सत्य से भी वंचित ही रह जाना होता है। ज्ञान की प्रसव पीड़ा से ही पलायन ज्ञान का जन्म नहीं बन सकता है।
सत्य को पाना नहीं, वरन स्वयं में जन्म देना होता है। वह कहीं बाहर खोजने की वस्तु नहीं है। वस्तुतः वह वस्तु ही नहीं है, इसलिए बाहर तो उसे खोजा ही नहीं जा सकता। वह तो है अनुभूति। उसे पाना नहीं, वरन स्वयं में जगाना है। वह बाहर कहीं जगत की नहीं, वरन हमारी ही प्रसुप्त संभावना है। उसे पाने को कोई बाह्य यात्रा नहीं करनी है। करना है आत्म-परिवर्तन, करना है उसका स्वयं में उदघाटन। जीवन की सघनता में, जीवन के संघर्ष में, जीवन के साक्षात में ही यह हो सकता है। जो गहरी निद्रा में प्रसुप्त है, वह सतत आघातों से ही जाग सकता है। ऐसे भी व्यक्ति हैं जो जीवन पाने को जीवन से ही भागना शुरू कर देते हैं! उन्हें दिखाई नहीं देता लेकिन वे जीवन की नहीं, वरन किसी न किसी रूप में मृत्यु की तलाश कर रहे होते हैं। उनकी खोज आत्मघात के लिए है। उनकी शांति की आकांक्षा वस्तुतः मृत्यु की ही आकांक्षा है। जीवन की पीड़ा, जीवन का तप उन्हें मृत्यु की शरण में भेज देता है। जहां संघर्ष के साक्षात से पलायन है, वहीं आत्मघात की प्रवृत्ति सक्रिय हो जाती है। वे मरना चाहते हैं और इस मृत्यु को अच्छे शब्दों में छिपा लेते हैं। धर्म और संन्यास के वस्त्रों में मृत्यु भी सम्मोहक लगने लगती है, और आत्मघात का अपराध भी पूजा योग्य हो जाता है।

‘मैं हूं’, इससे बड़ा और कोई सत्य मेरे लिए नहीं हो सकता। सत्ता के लिए जो भी द्वार संभव होगा, वह मेरी सत्ता से हो सकता है। स्वयं में जाए बिना जो भी पाया हुआ प्रतीत होगा, वह सत्य नहीं हो सकता।
इसलिए सत्य को सीखा नहीं जा सकता, न ही उसे सीखने का कोई उपाय ही है। इस कारण जो
भी सीखा जा सके, वह सत्य नहीं होगा, सीखा हुआ होने के कारण ही वह असत्य हो जावेगा। सत्य को तो जिया जा सकता है, जाना जा सकता है, लेकिन सीखा नहीं। ज्ञान शिक्षा से नहीं, स्वयं से, साधना से ही प्राप्त होता है।
शास्त्र सीखे जा सकते हैं। उन्हें स्मरण किया जा सकता है। वे कंठस्थ हो सकते
हैं और फिर ज्ञान का धोखा दे सकते हैं। उनकी यांत्रिक पुनरुक्ति में ही आनंद प्रतीत होने लगता है, क्योंकि इस भांति मन को झूठी सुरक्षा मिल जाती है। अज्ञान में असुरक्षा है, अशक्ति है, भय है। तथाकथित ज्ञान सुरक्षा-शक्ति और अभय देता हुआ प्रतीत होता है। साथ ही उससे अहंता भी परिपुष्ट होती है। झूठे ज्ञान से, सीखे हुए ज्ञान से अहंकार भरता और प्रबल होता है। वास्तविक ज्ञान का लक्षण निर-अहंकारिता है, तो झूठे ज्ञान का लक्षण निश्चय ही अहंकार है।
सत्य को सीखने का विचार ही एक मनमोहक स्वप्न से ज्यादा नहीं है।
मैं यही सब उनसे कहता हूं। लेकिन वे शास्त्रों से भरे हैं और सुनने में असमर्थ हैं। उनके भीतर सीखे हुए सिद्धांत घूम रहे हैं और वे उनकी उलझी हुई भीड़ में ही खोये हुए हैं। यहां मेरे पास उनकी उपस्थिति नहीं है। उनके कान सुनते मालूम होते हैं, लेकिन सुनते नहीं। उनकी आंखें देखती मालूम होती हैं, लेकिन देखती नहीं। मैं जैसे ही चुप होता हूं, वे अपने सीखे हुए शब्द पुनः दोहराना शुरू कर देते हैं। उनके शब्दों की मेरे कहे हुए से कोई भी संगति नहीं है। फिर भी वे इस ख्याल में हैं कि उनकी बातें बहुत संगतिपूर्ण हैं, और इस ख्याल में भी कि वे जो कह रहे हैं, वह उन्होंने मेरी बातों पर बहुत विचार करके कहा है।
मैं उन्हें हिलाता हूं, जैसे कि कोई सोये हुए व्यक्ति को हिलाए। वे घबरा जाते
हैं और आश्चर्य से मुझे देखने लगते हैं। फिर मैं उनसे कहता हूं: जीवन प्रतिपल नया है। समय की नदी हर क्षण बही जाती है। एक क्षण को भी उसमें कहीं ठहराव नहीं है। ऐसे सतत प्रवाहमय जीवन के सत्य को जानने के लिए बंधे-बंधाए सिद्धांत और उत्तर उपयोगी नहीं हो सकते। जड़ सिद्धांतों से तो मात्र जड़ को ही जाना और पहचाना जा सकता है। जीवन जड़ नहीं। उसे जानने को तो चेतना की उतनी ही नई, ताजी आरै सजग स्थिति होनी चाहिए। किंतु संस्कारग्रस्त चित्त वासी हो जाता है और परंपराओं और धारणाओं की जकड़ उसे जड़ कर देती है। चित्त की ऐसी जड़ दशा में जीवन के प्रवाह से संपर्क और संवाद कैसे संभव है? जो नया है, प्रतिपल नवीन है, जहां न कोई पुरानी लीक है और न ही पुराने की कोई पुनरुक्ति है, वहां पुराने की, ज्ञात की, सीखे हुए की, स्मृति की पुनरुक्ति करने वाला मन स्वाभाविक ही है कि पिछड़ जाए और असफल हो जाए। प्रश्न जहां नये हैं, वहां पुराने प्रत्युत्तर कैसे काम देंगे? समस्याएं जहां पुरानी नहीं हैं, वहां पुराने समाधानों की ढोना निपट अंधापन ही नहीं तो और क्या है?
एक कथा स्मरण आती है। एक गांव में दो मंदिर थे। दोनों मंदिरों के पुरोहितों
में बड़ा पुराना वैमनस्य था। दोनों पुरोहितों के पास एक एक लड़का सेवा-सुश्रवा के लिए था। एक दिन दोनों लड़के बाजार जाते हुए मार्ग में मिले। पहले मंदिर के लड़के ने पूछा: मित्र, कहां जा रहे हो? दूसरे ने कहा: मेरे पैर जहां भी मुझे ले जाएं। स्वभावतः ही पूछने वाला इससे चुप रह गया और उसे आगे कुछ भी कहने को नहीं सूझा। बाजार से लौट कर उसने अपने गुरु को यह घटना बताई। गुरु ने कहा: इस भांति विरोधी से हार जाना उचित नहीं। कल जब तुम्हें वह मिले तो वही प्रश्न तुम पुनः पूछना। वह फिर से पुराना उत्तर देगा, तो तुम कहना..मान लो तुम्हारे पास पैर न होते, तो जीवन में तुम कहां जाते? दूसरे दिन दोनों लड़के मिले तो पहले ने पूछा: मित्र, कहां जा रहे हो? दूसरे ने कहा: हवाएं जहां ले जाएं। इससे फिर उसे चुप रह जाना पड़ा क्योंकि तैयार उत्तर काम नहीं पड़ सका। लौट कर उसने अपने गुरु से पुनः सलाह ली। गुरु ने कहा: कल तुम उससे कहना..मान लो हवाएं न हों तो जीवन में तुम कहां जाते? दूसरे दिन बाजार जाते हुए दोनों लड़के फिर मिले। पहले लड़के ने पूछा: कहां जा रहे हो, मित्र? दूसरे ने कहा: साग-सब्जी खरीदने।
जीवन में भी ऐसा ही है। बंधे-बंधाए और सीखे हुए उत्तर वहां भी काम नहीं आते। जो
नया है, प्रतिपल नया है वहां प्रतिपल नई होकर ही जो चेतना उपस्थित होती है वही उस जीवंत प्रवाह को जान पाती। जिससे कि हम घिरे हैं और जो कि हम हैं। जीवन सत्य से परिचित होने को चिर-युवा मन आवश्यक है। तथाकथित ज्ञान के बोझ से बूढ़ा हुआ मन कुछ भी नहीं जान पाता। जिसने अपने चित्त में किसी भांति का कूड़ा-कचरा इकट्ठा नहीं किया और उसे सदा युवा बनाए रखा है, वही और केवल वही, उस संपदा का मालिक हो पाता है जो कि जीवन में छिपी है। वह संपदा ही सत्य है।

31.

आकाश में वर्षा के पहले बादल घिरे हैं। ग्रीष्म में प्यासी हो उठी पृथ्वी के प्राण आनंद से पुलकित हो रहे हैं। पक्षी मंगल-गीत गा रहे हैं और वृक्षों की आंखें प्रेम और प्रतीक्षा से बादलों को निहार रही हैं। एक पुराने बड़-वृक्ष के नीचे मैं भी इस आनंदोत्सव में सम्मिलित हुआ बैठा हूं। निकट ही जनपथ है। उसपर से लोग आ-जा रहे हैं। मैं उन्हे देखता हूं। वे अपने में घिरे हैं। न उन्हें ऊपर घिरे बादलों का पता है, न नीचे हो रहे इस विराट स्वागत-समारोह का। पक्षियों के गीत उन्हें सुनाई नहीं पड़ रहे और न पृथ्वी की प्रार्थनाएं। वे अपने में बंद हैं। वर्तमान में वे नहीं हैं। अतीत, मृत अतीत में ही उनका मन यात्रा किए जाता है। मन अतीत ही है। वह भी मृत है उसका मुख सदा ही वर्तमान से विमुख है। वह वर्तमान में कभी होता ही नहीं। उसे वर्तमान की सतत जीवंत और अपरिचित घड़ियां नहीं, वरन अतीत की परिचित और जड़ परिस्थितियां ही प्रिय हैं। जीवन में तो वे परिस्थितियां अब नहीं, इसलिए स्मृति में, मन-स्थितियों की भांति ही वह उन्हें जिये जाता है। जीवन नित-नूतन है, किंतु मन सदैव ही पुरातन बना रहता है। एक राजा के महल में मैं गया था। उस महल के तलघरे में न मालूम किस किस सदी का कूड़ा-कबाड़ इकट्ठा था। ऐसा ही मनुष्य का मन है। उसमें भी अतीत की धूल इकट्ठी होती रहती है। यह धूल चेतना के दर्पण को इस भांति ढंक लेती है कि फिर उसमें जीवन के प्रतिफलन बनने बंद ही हो जाते हैं। अतीत बोझ हो जाता है। अतीत बंधन हो जाता है। अतीत एक ऐसा जादुई घेरा हो जाता है कि उसका अतिक्रमण असंभव प्रतीत होता है। चेतना की अमुक्ति यही है। आत्मा के लिए जड़ता यही है। मन के, मृत मन के अतिरिक्त आत्मा पर और कोई बंधन कहां हैं?
जीवन के अनुभव के लिए मन की कारा से मुक्ति आवश्यक है।
मन की कारा से मुक्त जीवन को ही मैं परमात्मा की अनुभूति जानता हूं।
जीवन और मन की दिशाएं विपरीत हैं। मन मृत्यु की ओर बहता है। वह मृत ही है। मन
सदा बासा है। उसका जीवंत से संपर्क ही नहीं होता है। प्रकाश से जैसे अंधेरा दूर-दूर रहता है, ऐसे ही वह भी जीवन से दूर-दूर रहा आता है।
श्रावस्ती का मृगार श्रेष्ठ करोड़ों मुद्राओं का स्वामी था। वह मन में अपनी मुद्राएं ही गिनता रहता। उनकी गणना में ही वह जीता था। वही उसका जीवन था। उनमें ही उसके प्राण थे। उस घेरे के बाहर न उसकी दृष्टि थी, न अनुभूति थी। सोते और जागते मुद्राओं का स्वप्न ही उसे सुलाए रखता था। वह जैसे होश में ही नहीं था। मुद्राओं के सम्मोहन में मूच्र्छित वह होश में होने के भ्रम में ही होता था। एक दिन वह भोजन करने बैठा तो उसकी पुत्रवधु ने पूछा: भोजन कैसा है, तात? कोई त्रुटि तो नहीं? त्रुटि और विशाखा सी चतुर बहू से? मृगार कौर चबाता हंस पड़ा: किंतु तुम ऐसा क्यों पूछती हो, आयुष्मती? तुमने तो सदा ही ताजे भोजन से मुझे तृप्त किया है? यह सुन उसकी पुत्रवधु ने दृष्टि नीची कर बहुत दुख से कहा: यही तो आपका भ्रम है। मैं आज तक आपको बासा भोजन ही खिलाती रही हूं। मेरी प्रबल इच्छा है कि आपको ताजे व्यंजन खिलाऊं, किंतु विवश हूं, क्योंकि ताजे भोजन करने को आप तैयार ही नहीं हैं! मृगार के हाथ का कौर हाथ में ही रह गया और उसने कहा: यह क्या कह रही हो शुभे। विशाखा ने कहा: ठीक ही कहती हूं। मन जिसका बासा है, उसका सब-कुछ, सारा जीवन ही बासा हो जाता है। मन जिसका मृत है, वह जीवित होते हुए भी जीवित नहीं रह जाता है।
वर्तमान में, सदा वर्तमान में जो सजग है, सचेत है, सावधान है, वही जाग्रत है,
वही जीवित है। वही सत्ता से संबंधित है। न तो अतीत है, न भविष्य है। जो है, वह अभी है और यहीं है। अस्तित्व सदा वर्तमान में है। मन कभी भी वर्तमान में नहीं है। इसीलिए मन सत्ता को जानने में असमर्थ हो जाता है। सत्य की राह पर वह इसीलिए बाधा बन जाता है। सत्य को पाना है तो मन को छोड़ना होता है। मन को छोड़ने की विधि क्या है? वह विधि है: अतीत और भविष्य के सम्मोहन को तोड़ कर वर्तमान के सत्य के प्रति जागना जो है, जो चारों ओर है, जो भीतर-बाहर है, उसके प्रति सहज और सतत जागरूकता से मन क्रमश: विसर्जित हो जाता है, और तब मन की मृत्यु पर उस मौन का जन्म होता है जो कि सत्य के अज्ञात सागर में यात्रा के लिए नौका बन जाता है।

32.

मैं किसी परिवार में अतिथि था। जाते ही देखा कि उनके द्वार पर दो तोते पिंजड़ों
में बंद हैं। पिंजड़े सुंदर सुनहरे रंगों में रंगे हुए हैं। ठीक भी है। यदि परतंत्रता ऊपर से रंगीन और सुंदर न हो, तो उसे पसंद कौन करेगा? बंधनों को भी हम सजा लेते हैं और सुंदर बना लेते हैं। लेकिन क्या बंधन कितने ही सजाने और संवारने से कभी सुंदर हो सकते हैं? बंधन से अधिक कुरूप वस्तु और क्या है? और शायद इसीलिए बंधनों को

हम जितना सुंदर बनाने का प्रयास करते हैं। उतना और किसी चीज को नहीं। जो जितना कुरूप होता है, उसे हम सुंदर से उतना ही थोप कर भुलाने की चेष्टा करते हैं।
वस्तुतः, जहां कुरूपता नहीं है वहीं सुंदर बनाने का ख्याल ही पैदा नहीं होता
है। सुंदर बनाने और सुंदर होने का बोध ही कुरूपता से पैदा होता है।
यह सोचता ही था कि वे तोते कुछ बोलने लगे। उन्हें जो सिखाया गया है, वही वे बोल
रहे हैं। वे राम का नाम ले रहे हैं। उन्हें सुन कर उन सबका मुझे स्मरण आता है, जिन्हें मैंने राम का नाम लेते देखा है, या अल्लाह का या किसी और का। क्या उन सबने भी वे नाम सीख नहीं लिए हैं? और सीखे हुए का मूल्य ही क्या हो सकता है? कैसा आश्चर्य है कि परमत्मा को भी सीख लिया जाता है और धर्म को भी? क्या इससे भी गहरी कोई आत्मवंचना हो सकती है?
मैं मंदिरों में जाता हूं और मस्जिदों में, गिरजों में और गुरुद्वारों में और वहां क्या पाता हूं? पाता हूं कि सीखी हुई और रटी हुई बातें वहां दोहराई जा रही हैं। और सुना तुमने? उन्हें वे प्रार्थनाएं कहते हैं! और मैं हैरान होकर वापस लौट आता हूं। मैं समझ ही नहीं पाता कि यह सब क्या हो रहा है?
प्रार्थना तो प्रेम है, और प्रेम क्या सीखा जा सकता है या कि दोहराया जा सकता
है?
और प्रार्थना तो चित्त की मौन दशा है, उसे भी क्या शब्द दिए जा सकते हैं? और शब्द भी दूसरों के?
पर हम तो सीखे हुए लोग हैं और हमें सब कुछ सिखा दिया गया है। प्रेम और प्रार्थना..सभी कुछ हमने सीख लिया है! लेकिन मैं उसे मृत ही कहता हूं जिसमें कि अनसीखा कुछ भी नहीं है..सहजस्फूर्त कुछ भी नहीं है..उसका स्वयं का कुछ भी नहीं है। जीवन में जो भी सार्थक है, वह सीखा नहीं जाता है और जीवन में जो भी मूल्यवान है,
उसे दूसरों से नहीं पाया जाता है। उसे तो स्वयं ही, स्वयं में ही और स्वयं के द्वारा ही पाना होता है। और यही उसका आनंद और यही उसका सौंदर्य भी है।
विदा होते समय मैंने अपने आतिथेय को कहा: ‘इन तोतों को मुक्त क्यों नहीं कर देते हैं? ’ वे बोले: ‘हमें इनसे बहुत प्रेम है।’ मैंने यह सुना तो आवाक होकर उनकी आंखों में देखता रह गया। मुझ से कुछ बोलते ही नहीं बना। वे किंचित परेशान हुए होंगे। मेरा ऐसा उन्हें देखना निश्चय ही अबूझ मालूम हुआ होगा। फिर मैने उनसे कहा था: ‘ठीक ही कहते हैं। प्रेम है इसलिए इन्हें मुक्त कैसे करें? लेकिन क्या कभी सोचा है कि प्रेम भी क्या किसी को बांध सकता है? और क्या वह प्रेम होगा जो बांधे? प्रेम तो मुक्त करता है। दूसरे को बांध रखने में प्रेम नहीं, अप्रेम है..मूलतः घृणा है। दूसरे के मालिक होने में..दूसरे को अपनी वस्तु बना लेने में..प्रेम नहीं, अधिकार का आनंद है। और अधिकार का रस क्या घृणा का ही रस नहीं है? क्या यह दूसरे की हत्या नहीं है..क्या स्वतंत्रता को नष्ट करना दूसरे के स्वत्व को ही विनष्ट नहीं कर देना है? ’
इस बीच उनकी पत्नी भी आ गई थीं। उन्होंने मुझसे कहा: आप इन तोतों को मुक्त कर
दें!
मैने तोतों के पिंजड़ों के द्वार खोले, लेकिन तोतों ने अपने अपने पिंजड़ों के सीखचों को जोर से पकड़ लिया। वे बाहर निकलने को तैयार न थे।
उनके मालिक को उनसे प्रेम था, उन्हें अपनी कैद से प्रेम था! मैं उन्हें बाहर खींचता था और वे थे कि चिल्लाते थे, फड़फड़ाते थे और भीतर चिपटते थे। मेरी कोशिश व्यर्थ हुई। वस्तुतः कोई अन्य किसी दूसरे को स्वतंत्रता कैसे दे सकता है? स्वतंत्रता तो पाई जाती है। वह मिलती नहीं। स्वतंत्रता को कोई दान नहीं होता है। और इसलिए दान में पाई हुई स्वतंत्रता छिपी हुई परतंत्रता ही होती है। वैसी स्वतंत्रता परतंत्रता से भी घातक है क्योंकि वह दिखाई नहीं पड़ती है।
फिर मैं सोचने लगा..बहुत सी बातें सोचने लगा। वे पक्षी आकाश की स्वतंत्रता के
लिए राजी क्यों न हुए? क्या किसी को अपनी कैद और अपने बंधनों से भी प्रेम हो सकता है? क्या दासता से भी आसक्ति हो जाती है?
शायद, आकाश की स्वतंत्रता उन्हें भयभीत कर रही थी। अपरिचित और अज्ञात भय देता
है। परिचित से परिचित होने के कारण ही अभय मालूम होने लगता है। संभवतः इसीलिए उन्होंने अपरिचित स्वतंत्रता की बजाय परिचित परतंत्रता को ही चुनना ठीक समझा। फिर परिचित सुरक्षित प्रतीत होता है। आकाश असुरक्षित था। पिंजड़ा सुरक्षित। उन्होंने पिंजड़े को नहीं, वस्तुतः सुरक्षा को ही चुना था। और तब मुझे दिखाई दिया कि उनका तर्क कितना मनुष्यों ही जैसा है! मनुष्य भी तो ऐसा ही है। कितने कम मनुष्य हैं जो कि अपने कारागृहों को छोड़ने को राजी होंगे। जंजीरों को छोड़ना बहुत कठिन है क्योंके जंजीरें सुरक्षा देती हैं।
स्वतंत्रता और सुरक्षा को एक ही साथ नहीं चाहा जा सकता है। वे तो विरोधी चाहें हैं। सुरक्षा को छोड़ने का साहस हो तो ही स्वतंत्रता की चाह का जन्म हो सकता है। असुरक्षा का साहस ही स्वतंत्रता का अधिकार है। सुरक्षा प्रिय है तो स्वतंत्रता से

भय होगा। यह स्वाभाविक ही है। सुरक्षा की आकांक्षा में ही परतंत्रता की संभावना छिपी होती है। वह परतंत्रता का ही बीज है। वह एक अच्छे नाम में..परतंत्रता ही है। मित्रों से मैं कहता हूं: स्वयं से पूछो कि क्या चाहते हो?..सुरक्षा या स्वतंत्रता? और उनकी आंखों में मैं देखता हूं तो वहां सुरक्षा की अभिलाषा ही लिखी दिखाई देती है। इस अभिलाषा ने ही न मालूम कितने प्रकार की परतंत्रताएं पैदा कर दी हैं। जो सुरक्षित होना चाहता है, वह किसी न किसी रूप में परतंत्र हो ही जाएगा। उसकी इस कमजोरी का शोषण हुए बिना नहीं रह सकता है। शास्त्र, संप्रदाय, संगठन..किसी न किसी की जंजीरें उसे बांध ही लेंगी। कोई न कोई पिंजड़ा उसकी आत्मा को कैद कर ही लेगा। राजनीति यही करती है। धर्म यही करते हैं। सब तरह के सिद्धांत यही करते हैं। सुरक्षा के आश्वासन से मनुष्य की आत्मा का शोषण होता है।
और फिर उन करागृहों को..उन मानसिक दासताओं को स्वयं ही छोड़ने में भय लगने लगता
है, असुरक्षा प्रतीत होने लगती है और हम अपने ही हाथों बंधनों और चैखटों में जकड़ जाते हैं। सब भांति की परतंत्रताएं मनुष्य स्वयं ही ओढ़ता है और फिर उनकी रक्षा भी करता है। यहां तक कि उन्हें बचाए रखने के लिए स्वयं के प्राण भी दे सकता है। राष्ट्रों के नाम पर, धर्मों के नाम पर हुई कुर्बानियां और क्या हैं?
इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी हम सुरक्षित होना चाहते हैं। जीवन में ही नहीं, मृत्यु के बाद भी हम सुरक्षा चाहते हैं। इस लोभ ने ही स्वर्ग और मोक्ष की कल्पनाओं को जन्म दिया है और भय के कारण हम उनपर संदेह भी नहीं करते हैं। भयभीत मन कैसे संदेह करेगा? वह तो सुरक्षा के निमित्त किसी भी असत्य पर विश्वास कर लेता है। भयभीत मन ही तो समस्त अंधविश्वासों की पोषण भूमि है, वही तो असत्य और मिथ्या धारणाओं का सहारा है। सुरक्षा की वासना जहां है, वहां संदेह नहीं हो सकता है। और जहां संदेह नहीं है, वहां सत्य का साक्षात्कार भी नहीं हो सकता है।
ईश्वर के नाम पर प्रचलित जो सारा पाखंड है, वह क्या है? क्या वह सब हमारे भय का
ही विस्तार नहीं है..क्या हम सुरक्षा चाहने के कारण ही उस सबको नहीं चलने देते हैं? पाप और पुण्य, प्रलोभन और दंड, स्वर्ग और नरक की सारी धारणाएं क्या हैं? क्या
उन सबके पीछे हमारे भयभीत मन की छाया का ही आधार नहीं है?
और आत्मा की अमरता का विचार क्या है? क्या मृत्यु के भय के कारण ही हमने उसकी
शरण नहीं ले ली है?
इस भांति के भयों और अंधविश्वासों के अंधकार से बंधा चित्त सत्य का आलोक नहीं
देख सकता है और इस भांति के सुरक्षा के सींकचों को पकड़े हुई आत्मा परमात्मा के आकाश में गति नहीं कर सकती है।
आकाश की स्वतंत्रता के लिए सभी भांति के पिंजड़ों का मोह छोड़ देना अनिवार्य
है। और स्मरण रहे कि मानसिक दासता से मुक्ति आत्मिक मुक्ति का प्रारंभ है। जो प्रारंभ में ही बंधा हुआ है, वह अंत में मुक्त कैसे होगा? मुक्ति चाहिए हो तो मुक्ति से ही प्रारंभ करना होगा। आरंभ में ही तो अंत भी होता है। दासता कहीं भी नहीं ले जाती है सिवाय और गहरी दासता के। फिर वह दासता चाहे शास्त्रों की हो, चाहे शास्ताओं की। दासता तो दासता है। और लोहे की जंजीरें उतनी मजबूत नहीं होती हैं जितनी कि विचार की जंजीरें। विचारों से..पराए विचारों से जो मुक्त नहीं है, वह कभी भी, किसी भी अर्थों में मुक्त नहीं हो सकता है।
मैं कहता हूं: सत्य को पाना है तो शास्त्रों से मुक्त हो जाओ और स्वयं को पाना
है तो समस्त पर-शरणता के ऊपर उठना होगा। और जो धर्म को पाना चाहता है, वह संप्रदाओं को छोड़ दे। वस्तुतः, सुरक्षा की दौड़ से मुक्त होना आवश्यक है यदि स्वतंत्रता पानी हो। और स्मरण रहे कि जो असुरक्षा में कूद जाता है, वह सुरक्षित हो जाता है क्योंकि स्वतंत्रता से बड़ी और कोई सुरक्षा नहीं है। स्वतंत्रता में ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर है।

33.
प्यारी सोहन,
प्रेम। तेरे पत्र और राखी मिली है। आज गाडरवारा जा रहा हूं। कल जाने को था, लेकिन मोनू की तबीयत अचानक बिगड़ गई। इसलिए नहीं जा सका। आज संध्या जाऊंगा। उसकी तबियत अब ठीक है। शेष शुभ। तू जल्दी मिलने वाली है, इसलिए कुछ लिखने को ही नहीं सूझ रहा है। महासति चंदना जी के लिए पत्र साथ में है। माणिक बाबू को प्रेम। बच्चों को आशीष। माणिक बाबू का तार आया था। तार से ही उसका उत्तर दे दिया था। वह मिल गया होगा। मैं 14 सितंबर की संध्या के पूर्व नहीं आ सकूंगा। उसके पहले कुछ अन्य कार्यक्रम ले रखे हैं।
रजनीश के प्रणाम
30/8/1966

34.
प्यारी सोहन,
मैं नेपानगर गया था। कल ही लौटा हूं। लौटते ही तेरा पत्र मिला है। नेपानगर के गेस्टहाउस में तेरी बड़ी याद आई। ऐसी सुंदर जगह थी कि स्वाभाविक था कि तुझे दिखाने का मन होता। अगली बार वहां गया तो तुझे बुलाऊंगा। बार्शी का एक निमंत्रण मिला। वहां गया तो तो तुझे चलना ही है। आमंत्रक को मैंने मिलने के लिए पूना बुलाया है। 29 को गाडरवारा जा रहा हूं। उसके बाद 2 सितंबर को इंदौर जाऊंगा। श्रावण पर तूने बुलाया है? मैं कहीं भी रहूं तेरे पास तो रहूंगा ही। उस दिन तो निश्चय ही।
मणिक बाबू को प्रेम। बच्चों को आशीष। सबसे मिलने का समय बिल्कुल निकट ही है।
रजनीश के प्रणाम
27/8/1966

35. मन है संन्यास का तो डूबो

मेरे प्रिय,
प्रेम। मन है संन्यास का तो डूबो।
फिर स्थगन ठीक नहीं।
प्रभु जब पुकारे तो चल पड़ो।
फिर रुकना नहीं।
क्योंकि, अवसर द्वार पर बार-बार आए कि न आए।

36.
प्यारी सोहन,
प्रेम। तेरा पत्र मिला है। मेरे पत्र के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी? अब मैं तेरे लिए 23 जुलाई की प्रतीक्षा कर रहा हूं। वही अंतिम डब्बा..और तू सामान लिए खड़ी है..मुझे तो सब दिखाई पड़ रहा है! पता नहीं, मेरे खाने के लिए क्या ला रही है?
माणिक बाबू को प्रेम। मैं आशा करता हूं कि उन्होंने श्री रमणभाई को फोन करके तेरी यात्रा-व्यवस्था के लिए कह ही दिया होगा। बच्चों को आशीष।
मैं कोशिश तो यही करता हूं कि मेरे पत्र तुझे जल्दी-जल्दी मिल जावें और तुझे प्रतीक्षा न करनी पड़े, लेकिन कभी देर हो तो प्रतीक्षा कर अपने आपको परेशान मत किया कर..पत्र एकाध-दो दिन की देर से पहुंच ही जावेगा। शेष शुभ।

दोपहरः 8 जुलाई 1965

37.
जागृति केंद्र
नेपियर टाउन
(म.प्र.)

प्रवास से..
करेलीः 11/7/1965

प्यारी सोहन,
मैं अभी-अभी यहां पहुंचा हूं और रात्रि बोल कर रात्रि ही वापस लौट जाऊंगा। तेरा और माणिक बाबू का पत्र मिल गया था। लोग चले गए हैं और मैं विश्रामगृह में अकेला हूं। प्यास लगी है। उठ कर पानी पीऊं कि उसके पहले तेरा स्मरण आ गया है। उस दिन सुंदराबाई हाल में मैं बोलने के बाद बहुत प्यासा था और तू बंद द्वार के बाहर मेरे लिए पानी लिए खड़ी थी। द्वार तो अभी भी बंद है लेकिन बाहर कोई पानी लिए नहीं खड़ा है! किसी को बुलाने के लिए सोचता हूं तो तेरा नाम ओंठों पर आ जाता है। फिर, मन हुआ कि पहले तुझे पत्र लिख दूं और बाद में पानी की फिक्र करूंगा।

माणिक बाबू को प्रेम। बच्चों को आशीष।

38.

115, नेपियर टाउन,
जबलपुर (म.प्र.)

(प्रवास से,
इंदौरः 8 सित.1963ः रात्रि)

श्री सुंदरलाल...

प्रिय आत्मन्,
स्नेह। आपका पत्र मिला है। जीवन-कला को जानने की आपकी जिज्ञासा से प्रसन्न हूं। यही जिज्ञासा गहरी होकर मार्ग तक पहुंचा देती है। प्यास को इतना गहरा करना होता है कि प्यास ही रह जाए और हम मिट जाएं। एक जलती हुई प्यास चाहिए और वही प्यास अंधेरे में प्रकाश करती है।
सत्य दूर नहीं है। वह प्रति झण निकट है और उपस्थित है। केवल हम उसके प्रति ‘खुले हुए’ नही है। हमारी दीवारें बंद हैं। इन दीवारों में झरोखा तोड़ लेना ही साधना है।
विचार..मात्र दीवार है। अ-मन (नो-माइंड) होना झरोखा तोड़ना है।
यह बहुत सरल और सहज है। केवल सम्यक खोज समझने की बात है। हम विचारों के प्रति
खोए हुए हैं। इससे विचार दीखते हैं; वह नहीं जो उनका दृष्टा है। विचार प्रक्रिया के प्रति जागने, तटस्थ साक्षी बनने, होश में भरने से धीरे-धीरे उसकी झलक मिलने लगती है जो केवल दृष्टा है। और उसकी झलक, उसका बोध, उसका प्रकाश मन के अंधेरे की...में दरार डाल देता है। झरोखे निकल आते हैं और जिस सत्य का दर्शन होता है वह सब परिवर्तित कर देता है। जिस सिंहासन पर शरीर...अधिष्ठित...था वहां चैतन्य विराजमान हो जाता है। यही है जीवन-क्रांति। इसके अभाव में मनुष्य वस्तुतः न मनुष्य है, न जीवित है।
प्रभु सभी को पूर्ण जीवन दे यही कामना है।

मैं 21 सितंबर की सुबह कलकत्ता मेल से जलगांव पहुंच रहा हूं। सभी मित्रों को मेरे प्रणाम कहें। जलगांव से 22 सितंबर की दोपहर वाराणसी एक्सप्रेस से वापिस लौटना चाहता हूं। शेष मिलने पर।

39.

प्रिय आत्मन्,
स्नेह। आपका पत्र मिले देर हो गई है। मैं इस बीच निरंतर बाहर था इसलिए जल्दी प्रत्युत्तर संभव नहीं हो सका। मैं जो बोला उस संबंध में लिखा आपका लेख भी मिल गया है। किंतु मैं जो बोलता हूं उसे लिखें नहीं समझें। चिंतन, अध्ययन की दिशा आत्मिक नहीं है। विचार कहीं पहुंचाते नहीं केवल उलझा लेते हैं। यह भी परिग्रह है और अहं- तृप्ति का मार्ग है।
...को विचारना नहीं देखना होता है।
विचार मात्र बाह्य हैं और स्व-सत्ता को आवृत करते हैं। ज्ञान की राह में उनसे उत्पन्न ज्ञान अवरोध बन जाता है।
ज्ञान प्रत्येक को नित्य उपलब्ध है। उसे पाना नहीं है केवल उदघाटित करना है।
और, जो आच्छादित विचार-धूलि को छोड़ने का साहस करता है वह उसका मालिक हो जाता
है।
इसलिए, मैं विचार की दिशा में कोई सलाह नहीं देता हूं। मेरी सलाह तो निर्विचार-निर्विकल्प शून्यता की ओर है। मेरे सारे इंगित उसी तरफ हैं। परिधि पर लहरें हैं: पर उन लहरों के पार और पीछे कौन है? यही जानना है। जो उनके पीछे है उसे जानते ही जीवन अमृत से संयुक्त हो जाता है। और जो अमृत मे ले जाता है वही ज्ञान है। (शेष सब अज्ञान है।)
सतह की लहरों के पीछे एक अनंत गहराई है। विचार की तरंगों के पार यह कौन बैठा
है? पूछें और चुप हो जावें। उत्तर न दें। बुद्धि के सारे उत्तर व्यर्थ हैं। उनके कारण उत्तर नहीं आ पाता है।
शून्य मे सत्य के दर्शन होते हैं। निरुत्तर मौन में उत्तर का जन्म होता है।

मैं आनंद में हूं। वहां सब प्रियजनों को मेरे प्रणाम कहें।

दोपहरः
3 दिसंबर 1963

40.

ए-1 वुडलैंड पैडर रोड, बंबई-26. फोनः 382184

मेरे प्रिय,
प्रेम। कठिन है राह जीवन की।
पग पग पर उलझनें हैं।
पर धैर्य से और सजग हो जो उनसे जूझता है, वह निश्चय ही विजय पाता है।
मूच्र्छा के अतिरिक्त और कोई पराजय नहीं है।

8.3.1971

गिरधर भाई उकानी (स्वा. अक्षय योगेश्वर), राजकोट।

41.

दर्शन विभाग
...महाविद्यालय
3, नेपियर टाउन,
जबलपुर (म.प्र.)

श्री हरीराम जी आसलीया को,

प्रिय आत्मन्,
आपका पत्र मिला है। यह जान कर आनंदित हूं कि आत्मिक जीवन में आपकी उत्सुकता
है। यह उत्सुकता ही धीरे-धीरे मार्ग बन सकती है। पर इसे बौद्धिक जिज्ञासा मे नहीं, सक्रिय साधना में परिणित करना आवश्यक है। आत्मिक जीवन को पाने कहीं दूर नहीं जाना है। वह सत्ता सदैव प्रत्येक के भीतर उपस्थित है। उसे अभी और यहीं पाया जा सकता है। केवल सम्यक रूप से प्रयोग करने की बात है।
मनुष्य का व्यक्तित्व तीन पर्तों में विभाजित है। शरीर, मन और आत्मा। शरीर और
मन के जो पीछे है उसे पाने का प्रयास ही साधना है। आत्मा केवल दृष्टा है। दर्शन ही उसका स्वरूप है। इसलिए द्रष्टा होने..साक्षी होने का प्रयोग ही धीरे-धीरे उस तक पंहुचा देता है। जीवन की प्रत्येक दिशा में..शरीर की भी, मन की भी..दृष्टाभाव को जागृत करना है। प्रत्येक दिशा को परिपूर्ण जागृति से करें..अमूच्र्छा से करें..अप्रमत्त भाव से करें। देखते हुए..जानते हुए करें। हाथ भी हिलें तो स्मरणपूर्वक..पैर भी मार्ग पर पड़ें तो होश में। कुछ भी यांत्रिक और सोए हुए न हो। यही ध्यान है। ध्यान, वस्तुतः, कभी थोड़ी देर कर लेने की बात नहीं है। वह तो श्वास-प्रश्वास की भांति समस्त जीवन के क्रिया-कलापों में फैल जाना चाहिए। वह तो जीवन बन जाना चाहिए। महावीर ने कहा है; ‘सुत्ता अमुणी, समा मुणिषो जागंरति। (अमुनि सुप्त होते हैं, मुनि सदा जागते हैं।) इस बहुमूल्य सूत्र में उनका इशारा इसी भांति के सतत जागरण की ओर है। यह जागरण धीरे-धीरे उस सबसे चैतन्य को प्रथक कर देता है जो पर है। केवल स्व रह जाता है। और स्व बोध उस जीवन के द्वार खोल देता है जो सत्-चित्-आनंद है। सबको मेरे विनम्र प्रणाम कहें।

प्रभातः
16 जून 1963

42.
कमला नेहरू नगरः जबलपुर (म.प्र.) फोनः 2957

मेरे प्रिय,
प्रेम।
ऐसी तड़प होती ही है।
अज्ञात का विरह भी जलाता ही है।
वह भी तो प्रेम ही है।
लेकिन जो जलने को तैयार हैं, वे अवश्य ही उसे उपलब्ध हो जाते हैं।
दिये की ज्योति में आ गिरे पतंगे को देखा है न?
ऐसे ही उसकी ज्योति भी बुलाती है।
लेकिन पतंगे जैसा साहस कितनों में है?
साहस जुटाओ और कूंद पड़ो।
जो गिर सकता है, बस वही हो पाता है।
मृत्यु की कला ही जीवन की भी कला है।

8/4/1970

गिरधरभाई उकानी (स्वा. अक्षय योगेश्वर) राजकोट।

43.

प्रिय उर्मिला जी,
मैं प्रवास पर था। लौटा हूं तो आपका पत्र मिला है। उसे पाकर आनंदित और अनुगृहीत हूं। आज विश्वविद्यालय से लौटते में आपके पते पर पहुंचने का प्रयास भी किया लेकिन खोज नहीं पाया। अब तो आपको ही आना होगा। मैं नेपियर टाउन पार्क (मोतीलाल नेहरू पार्क) के पास, सेल्स टैक्स दफ्तर के निकट, योगेश भवन, 115 नेपियर टाउन में हूं। 23 जनवरी की संध्या रेल से सूरत जा रहा हूं। या तो उसके पहले आप आवें या 27 जनवरी के बाद। फिर 1 फरवरी को मैं पुनः बाहर चला जाऊंगा। रात्रि को 2 बजे के बाद या दिन में 4 और 6 के बीच कभी भी आ सकती हैं। आपके आने से मुझे खुशी होगी। आपको आने मे कोई असुविधा हो तो अपने निवास का पूरा पता लिख दें, मैं स्वयं आकर आपको लिवा लाऊंगा। शेष मिलने पर। श्री. सिंह को मेरे प्रणाम कहें।

दोपहरः
12/1/1966

45.

प्रिय उर्मिला,
मैं प्रवास से लौटा हूं तो तुम्हारे पत्र मिले हैं। हृदय में जो अनुभूति हो
रही है।
वह अत्यंत शुभ है। ‘पथ के प्रदीप’ में जो दृष्टि मिली, वह उसके कारण ही मिली है।
आंसू भी उसके कारण ही बहे हैं। और भी बहुत कुछ पिघलेगा और बहेगा। हृदय पर भार
है।
वह टूटेगा तो प्रेम के अभिनव द्वार खुलेंगे। ‘क्रांति-बीज’ मस्तिष्क के लिए
है।
‘पथ के प्रदीप’ हृदय के लिए। इन दोनों के प्रयोजन प्रथक हैं..यद्यपि जो कहा गया
है, वह दोनों में एक ही है।

इससे भी आनंदित हूं कि तुम वहां शांत हो। जागरुक रहोगी तो शांत भी रहोगी।
अशांति मूच्र्छा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

वहां सबको मेरे प्रणाम कहना।

प्रेम।

8/10/1966

46.

प्रिय उर्मिला,
प्रेम। पत्र मिला है। डाक्टर श्रीवास्तव को ‘पथ के प्रदीप’ भेज रहा हूं।

मैं आज ही बाहर जा रहा हूं: औरंगाबाद। 16 अक्टूबर को लौटूंगा। फिर 21 को माथेरान जाऊंगा। वहां से 30 अक्टूबर वापस होऊंगा। आर. जी. आए थे। संभवतः 3-4 नवंबर तक तुम भी आ जाओगी। देखें..कैसी लौटती हो?

जीवन की किसी भी स्थिति में साक्षी बने रहने से शांति अनायास ही बनी रहती है।
स्थिति के प्रति भीतर प्रतिरोध (रेसिसटेंस) हो तो ही अशांति जन्मती है।

इसलिए मैं सदा ही कहता हूं: तैरो नहीं, बहो।

और सहज बहे जाने से बड़ा न कोई आनंद है, न गहरी और आंतरिक कोई अनुभूति है।

लेकिन, सोचो मत। बहो और देखो। सोचना प्रतिरोध का ही अंग है।

वहां सबको मेरे प्रणाम।

प्रभात..
11/10/1966

47.
27/5/1967

प्रिय उर्मिला जी,
प्रेम। मैं यहां लौटा हूं तो तुम्हारे और आर. जी. के पत्र मिले हैं। आर. जी. को कहें कि उनका आमंत्रण मुझे स्वीकार है। और उसकी पूर्ति के लिए जल्दी ही मैं समय खोजूंगा। अरविंद बाहर था। वह भी आज ही वापस लौटा है। वह दूध के लिए जिनके लिए आर. जी. ने लिखा है, उनसे आजकल में मिलेगा। इस पत्र के साथ मैं जापानी कागज के दो नमूने भेज रहा हूं। उस भांति का मिलता-जुलता कागज कागजनगर में बनता है। तुम श्रीमती उप्पल को ये नमूने भेज देना और लिख देना कि वे नीचे पते पर दो में से किसी भी एक प्रकार के कागज का 60-70 फीट का टुकड़ा शीघ्र पहुंचा दें। पत्र मिलते ही उन्हें लिख देना। शेष शुभ। वहां सबको प्रणाम।

श्री. अकलंक कुमार खाटे,
नीलम फ्लेट, सोनबेली बर्फ कारखाने के पास, स्टेशन रोड़,
डालमिया नगर (बिहार)

48.
19/6/1967

प्रिय उर्मिला,
प्रेम। तुम्हारा पत्र मिला है। श्री. उप्पल जी को कागजनगर लिख दें कि पेपर बुलाना जरूरी है। यदि फैक्टरी में उपलब्ध न हो तो पेपर-डीलर्स से ही बुला कर भेज दें। अकलंक की क्वालिफिकेशंस भी साथ में भेज रहा हूं। उसके लिए बंबई व्यवस्था हो सके तो अच्छा है।

तुम्हारी चित्त-स्थिति कैसी चल रही है? बर्षा आने को है और पूना खूब सुंदर हो उठेगा। उस समय ध्यान पर गहराई से काम करना।

लिखी जा रही पुस्तक का क्या हुआ? उसे जल्दी ही पूरा कर डालो।

‘सिंहनाद’ तो भेज ही दिया होगा? न भेजा हो तो देख कर शीघ्र उसे बंबई भेज दो।

आर. जी. को मेरे प्रणाम कहना। बबलू को आशीष।
मैं जुलाई में 2 से 9 और 14 से 21 यहां रहूंगा। आर. जी. उसी समय आ सकें तो अच्छा
है।

49.

प्रिय उर्मिला,
प्रेम। तुम्हारा पत्र मिला है। मैं उसे अकलंक को भेज रहा हूं।

‘सिंहनाद’ को मैंने अत्यंत जल्दी में देखा था। मुझे पता नहीं कि कौन सी पंक्तियां तुमने बदली थीं। श्री रमण भाई से यही कह आया था कि प्रूफ की भूलों के अतिरिक्त और कोई परिवर्तन नहीं करना है।
आर. जी., श्री एवं श्रीमति उप्पल को मेरे प्रणाम कहें। पूना तो खूब हरा-भरा हो
गया होगा?
(हस्ताक्षर श्री)
17/7/1967

50.

मेरे प्रिय,
प्रेम। आपका पत्र मिला है। मैं तो उसे पाकर आश्चर्यचकित ही रह गया हूं! आप भी कहां के विचारों में पड़ गए हैं! मुझे तो ख्याल भी नहीं है कि आप और नाराज भी हो सकते हैं! इसलिए क्षमायाचना का ख्याल ही कहां है? सोहन और माणिक बाबू तो चाहते थे कि मैं आपके यहां खाने के लिए जाऊं लेकिन अत्यंत अल्प समय के कारण ही वह विचार स्थगित करना पड़ा। अगली बार मैं निश्चित ही भोजन के लिए आ रहा हूं और आपके सैनिकों के बीच भी बोलना चाहूंगा।
शेष शुभ। उर्मिला को स्नेह।

10/9/1967

51.

प्रिय उर्मिला,
तुम्हारा पत्र मिला है। मैं खुश हूं यह जान कर कि कुछ न भी करने पर तुम तृप्त
हो। ऐसी तृप्ति ही वास्तविक तृप्ति है। वह कुछ ‘करने’ से नही, वरन कुछ ‘होने’ से उपलब्ध होती है।

आर. जी. को मेरे प्रणाम।
मैं मार्च में पूना आ रहा हूं।
शेष शुभ।

8/12/1967

52.

27 सी.सी.आई चैम्बर्स, चर्चगेट, बंबई

प्रिय उर्मिला,
प्रेम। इस शांत साक्षीभाव मे ही डूब जाना है। यही है वह जगह जहां नाव डूबे तो किनारा आ जाता है।

24.2.1971

53.

जीवन जागृति केंद्र फोनः 264530
53 एंपायर बिलिं्डग, फस्र्ट फ्लोर
146 डाक्टर डी. एन. रोड
बंबई-1

प्यारी भारती,
प्रेम। वहां तू स्वयं को अकेली समझती होगी। लेकिन भूल कर भी ऐसी भूल मत करना। क्योंकि परमात्मा सदा और सब जगह साथ है। और उसका साथ ही वास्तविक साथ है। उसकी उपस्थिति को सदा अनुभव करना। बस फिर तू न अकेली रहेगी और न परदेश में ही। क्योंकि उसके अनुभव के साथ सारा विश्व ही अपना घर हो जाता है।

22/11/1969

54.

कमला नेहरू नगरः जबलपुर (म.प्र.)फोनः 2957

प्यारी भारती,
प्रेम। तेरा पत्र पाकर बहुत आनंदित हूं।
जीवन नये-नये अनुभवों का नाम है।
फिर जो नये का अनुभव करने में समर्थ हैं, वही जीवित हैं।
इसलिए...प्रेम से ले।
नये को सीख।
अपरिचित को परिचित बना।
अज्ञात को जान, पहचान।
निश्चय ही इसमें तुझे बदलना होगा।
पुरानी आदतें टूटेंगी।
तो उन्हें टूटने दें।
और स्वयं की बदलाहट से भयभीत न हो।
परिवर्तन सदा शुभ है।
जड़ता सदा अशुभ।
और सदा ही अतीत की ओर देखते रहना खतरनाक है।
क्योंकि, उससे भविष्य के सृजन में बाधा पड़ती है।
पीछे नहीं; जीवन है आगे।
इसलिए, आगे देख।
और आगे, और आगे।
स्मृतियों में नहीं, सपनों में भी।
और जो भी वहां है उसे निंदा से मत देख।
वह दृष्टि गलत है।
जहां भी रहे, वहां सदा शुभ को, सुंदर को खोज।
और सब जगह, सब लोगों में सुंदर का वास है।
बस उसे देखने वाली आंख भर चाहिए।
और ध्यान रख कि जो हम देखते हैं, वही हम हो जाते हैं।
शुभ तो शुभ।
अशुभ तो अशुभ।
इसलिए, बुरे को मत देख।
वह भारतीय आदत छोड़ तो अच्छा!
मेरे जानने में तो बुरी दृष्टि के सिवाय और कुछ भी बुरा नहीं है.. वहां सबको मेरे प्रणाम कहना।

30/5/1970

55.

कमला नेहरू नगरः जबलपुर (म.प्र.)फोनः 2957

प्यारी भारती,
प्रेम। आज है तेरा जन्म-दिन।
उसके लिए मेरे शुभाशीष।
लेकिन, एक और जन्म भी है।
शरीर का नहीं, आत्मा का।
इस जन्म के लिए भी तेरा हृदय अभीप्सा से भरे ऐसी मेरी कामना और प्रार्थना है।

21.7.1970

56.

संस्कृत महाविद्यालय,
रायपुर
23 सितंबर, 1957

पूज्य डेरिया जी,
मैं परसों यहां आया हूं। मेरी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा संस्कृत महाविद्यालय रायपुर में हो गई है। परसों ही महाविद्यालय ज्वाइन कर लिया था! हस्ताक्षर करते समय मन बड़ा दुखी था: लगता रहा कि जैसे कि स्वतंत्रता के क्षण समाप्त हो रहे हैं। कालेज में पढ़ाना बड़ा मृत सा लगता है: वह जीवन का कोई संदेश नहीं देता है। मैं अपने अंतर्मन में जानता हूं कि मैं इस सब के लिए नहीं हूं। किंतु उस क्षण की राह तो देखनी ही होगी जिस दिन की मैं उस कार्य में लग सकूंगा जो कि वस्तुतः मेरे ‘मैं’ को ‘मैं’ बनाएगा। उस दिन में द्विज बनूंगा: मेरा दूसरा जन्म होगा! मैं वस्तुतः जलूंगा। उस दिन के लिए निरंतर प्रार्थना कर रहा हूं।
सत्या कैसा है? सबको मेरा स्नेह। मैं 5-6 अक्तूबर तक घर पहुंच रहा हूं। शेष
शुभ है। पू. लाल साहब तथा अन्यों को मेरा आदर। आप क्या कर रहे हैं! लिखिए।

57.
श्रीकृष्ण सक्सेना
अध्यक्ष
दर्शन विभाग

युनिवर्सिटी ऑफ सागर
(सील)

सागर विश्वविद्यालय
सागर, (म.प्र.)

पूज्य डेरिया जी,
मेरा गाडरवारा से दिया पत्र, आशा करता हूं, आपको मिल गया होगा। मैं उसके बाद ही सागर चला आया हूं। सागर विश्वविद्यालय से मुझे 100)माह की क्षात्रवृत्ति मिल सकती है पर मैं चाहता हूं कि अब घर की भी कुछ सहायता कर सकूं इसलिए मेरा इरादा नौकरी करके प्राइवेट तौर पर ही रिसर्च करने का है। मैंने इस संबंध में सेठ भगवानदास जी से कल ही बात की है। इस वर्ष प्रांत में दर्शन के प्रोफेसर के लिए कोई स्थान रिक्त नहीं हुआ है; प्रांत के बाहर जरूर मैंने कुछ जगह के लिए आवेदन भेजे हैं; किंतु मैं प्रांत के बाहर जाना नहीं चाहता हूं इसलिए बासौदा कालेज में अगर कोई व्यवस्था हो सके तो आप कर दें। इस संबंध में ही मैंने सेठजी से बातें की हैं। उन्होंने सलाह दी है कि मैं आपको लेकर बासौदा चला जाऊं और श्री रामलाल जी आदि से मिल लूं और फिर कोई न कोई व्यवस्था हो

ही जाएगी। बासौदा रह कर मैं समाज और संत तारा साहिबा की सेवा करने में भी समर्थ हो सकता हूं और धीरे-धीरे उस कालेज को दर्शन और धर्म के अध्ययन और मनन का केंद्र भी बनाया जा सकता है। मुझे तो उस कॅालेज का कोई ध्यान ही नहीं था; सेठ डालचंद जी ने ही स्मरण कराया है। मैं दो-एक दिन बाद घर जाता हूं और वहीं से बाबई भी आऊंगा और अगर आवश्यक हुआ तो आपको बासौदा चल कर कुछ व्यवस्था करनी होगी। मैं 30 तारीख तक आपके पास पहुंच जाऊंगा और शेष बातें मिलने पर ही होंगी। शेष शुभ है। यहां आकर फ्लू हो गया था; अब स्वस्थ हूं। सबको:

58.

श्रद्धेय डेरिया जी,
आपका कृपा पत्र। मैं एक दिन को आ रहा हूं जिस दिन भी आप चाहें..पहले दिन या दूसरे दिन। एक दिन में ही आप एक गोष्ठी और एक भाषण की व्यवस्था कर लें। उतना ही ठीक व्यवस्था से हो तो काफी होगा। शेष शुभ। जिस दिन आप ठीक समझें मुझे लिख दें..मैं उस दिन उपस्थित हो जाऊंगा। सबको प्रणाम।

29 जनवरी, 60

59.

गाडरवारा
5 जुलाई 1957

श्रद्धेय डेरिया जी,
आपका पत्र। मैं आपकी बाट में था और इसलिए यह जान कर दुख हुआ कि आप नहीं आ रहे हैं। इस बीच मेरी खुद बाबई आने की बड़ी इच्छा थी और पचमढ़ी के बाद मेरा वहां पहुंचने का निश्चय भी था किंतु पचमढ़ी में अनायास मेरे सिर में पीड़ा हो आई और उसके कारण मुझे सीधा घर वापिस आ जाना पड़ा। समय के साथ विचारों के न मालुम कितने पत्ते पीले होकर झड़ जाते हैं और न मालुम कितनी नई कोंपलें प्रकट हो आती हैं और इसलिए समय के कुछ अंतराल के बाद मिलना और नये ख्यालों के लिए झगड़ना निश्चय ही सुखद होता है। पर अब तो मेरा आना संभव नहीं है; क्योंकि मैं आजकल में ही सागर जा रहा हूं। आप जरूर निमंत्रित हैं और जब अवसर मिले सागर आ जाइएगा। शेष फिर। सबको:..

60.
3/3/60

श्रद्धेय डेरिया जी,
आपका कृपा पत्र। सहज मेरा मन अपने में ही रहने का होता है..सब आना-जाना व्यर्थ
ही दीखता है। जो है भीतर है; वहीं सब ध्यान को लगाना है। अभी तो मृत हूं; वहीं केंद्रित होकर जीवन मिलेगा। अजंता हो या एलोरा..बाहर तो बस मृत्यु ही है; फिर भी, अब तो ‘हां’ कह कर बंध गया हूं, इसलिए चलना ही पड़ेगा। 10 वीं संध्या मेल से इटारसी पहुंच जाऊंगा..आप आ जाएं और श्रद्धेय ऐनकुमार जी भी चल रहे हैं। तो उन्हें भी ले आएं। कहें, उनसे वे भी जरूर ही चलें। किसी को पीछे छोड़ने से नहीं होगा, सबके..जो पिछड़े हैं, उनको और भी..साथ ले चलने से ही होगा। शेष शुभ। सबको प्रणाम। जयहिंद, सत्याग्रह, संगठन को स्नेह।

61.
गाडरवारा...15 अगस्त’ 57

पूज्य डेरिया जी,

मैं, शनिवार की रात को घर लौट आया था। भोपाल में रुक जाना ठीक ही हुआ। डा. शकंरदयाल और तख्तमल जी से मिल आया हूं। उन्होंने मेरा आवेदन पत्र ले लिया है और कुछ न कुछ करने का आश्वासन भी दिया है। आप घर पहुंच कर गिल्ला जी वाले मामले में लग गए होंगे और शायद इसलिए घर पहुंच कर भी घर के मुश्किल से ही हो पा रहे होंगे! मैं घर आकर बंबई-पूना आदि चलने के संबंध में सोचता रहा हूं और मुझे लग रहा है कि यदि आपको समय मिल सके तो चले चलना उपयोगी ही होगा। अगर चलने का इरादा हो तो शीघ्र सूचित करिए और कार्यक्रम भी लिखिए। पर ठीक होगा कि आप 20 अगस्त तक यहीं आ जाएं क्योंकि दद्दा भी आपसे मिलने को उत्सुक हैं और फिर यहीं से आगे की यात्रा पर निकल चलेंगे। मैं आशा करता हूं कि आप समय निकाल ही लेंगे और इस तरह इस प्रांत के कार्यकर्ताओं और विंद्वानों से सहज ही परिचय और संपर्क स्थापित हो जाएगा। मैं आनंद में हूं। सत्या का क्या हाल है? क्या जासौन के पत्ते वह अभी ले रहा है या नहीं? मैं वहीं व्यवस्थित हो जाऊं तो उसे कुछ दिन अपने पास रखने की बात मेरे मन में जम कर बैठ गई है और यह भी मैं जानता हूं कि इंकार वह नहीं कर सकेगा। पत्र आप शीघ्र देना और पू. लाल साहब तथा परिवार के सभी लोगों को मेरा प्रणाम कहना। पत्र की प्रतीक्षा में..

आपका अपना

62.

श्रद्धेय डेरिया जी,
आपका कृपा पत्र और निमंत्रण मिला; खुशी हुई। मुझे बुलाया है पर मैं बहुत कम ही कहीं जा रहा हूं..मन गहरी बदलाहट में है; मौत का असीम रहस्य स्पष्ट होता जाता है। सत्य है वहां, जहां विचार नहीं हैं, ‘मैं’ नहीं हूं..विचार से सत्य नहीं पाया जाता है। विचार के अभाव में उसका अस्तित्व है। यह प्रतीति गहराती जाती है तो बोलना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। इससे आने को मन नहीं कहता है..पर यदि आप नहीं माने, तो केवल एक दिन को। अंतिम दिन आ जाऊंगा। बहुत नहीं बोलूंगा केवल एक छोटी-मोटी चर्चा में ही भाग ले सकूंगा! शेष शुभ। सबको मेरे विनम्र प्रणाम।

19-1-60,
गुप्तेश्वर मार्ग, प्रेमनगर,
जबलपुर (म.प्र.)

63.

श्रद्धेय डेरिया जी,
आपका पत्र मिला: खुशी हुई। मैं 28 अगस्त को बंबई से लौट आया हूं। कार्यक्रम सुंदर हुआ। बंबई से पूना और उरली कांचन भी हो आया हूं। वहां पू.दसा आपकी राह देख रहे हैं। आप हो आएं तो अच्छा हो। आश्रम बहुत व्यवस्थित और स्वास्थ्यप्रद वातावरण में है। पू. बालकोसा जी से भी मिलना हुआ है।
यहां व्याख्यान माला चल रही है। लेकिन मैं पूरे दिन उपस्थित नहीं रह सकता हूं
और 2 सितंबर को पुनः विदिशा जा रहा हूं। 3 सितंबर को वहां पर्यूषण व्याख्यान माला में भाग लेना है।
पू. चिरंजीलाल जी ने मुझसे भी वर्धा पहुंचने का बहुत आग्रह किया है और आपको भी पत्र मेरे सामने ही लिखा था। मैं भी पहंुचने की सोच रहा हूं। ताराचंद भाई का भी आग्रह है कि मैं पहुंचू। वे बंबई में मिले तो आपका स्मरण कर रहे थे। शेष शुभ। आप वर्धा पहुंच रहे हैं तब वहां मिलना हो जाएगा। सबको मेरे प्रणाम कहें।

21 अगस्त 1960

पुनश्चः
उरली कांचन सत्याग्रह के लिए बहुत उपयोगी हो सकता है। जाएं तो उसे भी ले...। गाडरवारा से ठीक उस जैसी ही परेशानी से पीड़ित एक युवक को उरली की निसर्ग-चिकित्सा से आश्चर्यजनक लाभ पहुंचा है। आप न भी...तो भी सत्याग्रह को पहुंचा दे सकते हैं: दद्दा उसकी व्यवस्था कर लेंगे।

64.

श्रद्धेय डेरिया जी,
मैं कल ही विदिशा से वापस लौटा हूं। वहां पर्यूषण व्याख्यान माला के लिए गया
था। लौट कर संगठन का पत्र मिला: समाचार विदित हुए। मैं 10 तारीख को सुबह 8 बजे वर्धा पहुंच जाऊंगा। श्री फकीरचंद जी दो-तीन दिन पूर्व आए थे, वे भी 10 तारीख को पहुंच...। आप संभवतः 9 की संध्या को पहंुच...। मेरा भी विचार पहले 9 की संध्या पहंुचने का था: लेकिन छुट्टी की असुविधा होने के कारण मैं 10 की सुबह ही पहुंचूंगा। श्री ताराचंद भाई को पत्र लिखें तो यह सूचित कर दें। शेष शुभ। सब को मेरे प्रणाम।

6.9.60

65.
प्रिय श्री डेरिया जी,
प्रणाम। आपका पत्र मिला है।...जी तो मैं नहीं आ सकूंगा: समय भी नहीं है, सुविधा
भी नहीं है। देहली समाधि-योग पर बोलने जा रहा हूं और वहां एक ध्यान-केंद्र का भी उदघाटन करना है। इस तरह के केंद्र बंबई, कलकत्ता, जयपुर, कानपुर, उदयपुर, चांदा और अन्य स्थानों पर आरंभ किए हैं। हजारों व्यक्ति संबंधित हुए हैं और आशा बंधती है कि ध्यान को घर-घर पहुंचाया जा सकता है। ध्यान धर्म का केंद्रीय तत्व है। उसके पुर्नस्थापन से ही धर्म का पुनरुस्थान हो सकता है।

मैं आनंद में हूं।

सबको मेरे विनम्र प्रणाम कहें।

25 फरवरी 1963

66.

श्री बाबूलाल जी डेरिया ‘स्वराज्यानंद’ को,

प्रिय आत्मन्,
प्रणाम। आपका पत्र मिला है। बहुत खुशी हुई। मैं बंबई 22 और 23 अगस्त को बोल
रहा हूं। उसके पूर्व इंदौर और पश्चात भोपाल भी बोलूंगा। पर बोलने को क्या है? जो मौज में आ जाता है वह शब्द में बंधता नहीं है। शब्द के बादल सत्य के अनंत नीलाकाश के बहुत...ही छूट जाते हैं।
अदभुत है: जब तक स्वयं हो सत्य-नहीं है और जब सत्य आता है तब..उसके आगमन के पूर्व ही स्वयं को मिट जाना होता है।
चलते हैं खोजने हो जाता है खोना। ‘हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराई।’
ऐसा ही कुछ हुआ है। खो गया हूं। शब्द खो गए हैं, ‘स्वंय’ खो गया हूं; क्योंकि वह
भी एक शब्द के अतिरिक्त और क्या है?
शब्द ही संसार है: निःशब्द होना..में होना है।
इस निःशब्द को कैसे कहें?
केवल इशारे ही हो सकते हैं। और वे भी बहुत अधूरे और अपंग। और सत्य से बहुत दूर...जा सकता है वह धर्म नहीं है।

मिलने की प्रतीक्षा है। 21 अगस्त को दोपहर बम्बई पहुंचूंगा। शेष शुभ। अनंत आनंद में हूं। सबको विनम्र प्रणाम।

प्रभातः
10 अगस्त 1963

67.

चिदात्मन,

आपका पत्र और श्री. कांजी की ‘आत्म प्रसिद्धि’ पुस्तक मिली। समय मिलते ही उसे अवश्य देख लूंगा। इस प्रेमपूर्ण भेंट से अत्यंत अनुग्रहीत हूं। वहां सबको मेरे प्रणाम कहें।

10/9/1965

68.

चिदात्मन्,
मैं यह जान कर अति आनंदित हूं कि अब आपका स्वास्थ्य ठीक है। यह तो आपकी ही शक्ति और शांति थी कि आप इतने बड़े संकट से पार हो गए। आपके स्थान पर कोई भी दूसरा व्यक्ति घबड़ा जाता। ऐसी बीमारियों से जूझने के लिए अत्यंत आशावादी चित्त चाहिए। आपने इस परीक्षा को बहुत कुशलता से उत्तीर्ण कर लिया है। निश्चय ही सदा कार्यरत रहने वाले आप जैसे व्यक्ति को अब भी खाली बैठे रहना अति दूभर होता होगा। मैं इस तकलीफ को भलीभांति समझ सकता हूं। लेकिन आप अभिशाप सी दीखने वाली इस स्थिति को भी वरदान बना लेंगे, ऐसी आशा है। स्थितियां अपने आप में कुछ भी नहीं है। हम उन्हें...बना लेते हैं, इस पर ही सब कुछ निर्भर करता है। कृपा करके अपने निष्क्रिय समय को ध्यान में बिताएं। अध्ययन, मनन और.....अब यही जीवनचर्या हो। शायद अंतिम जीवन काल में साधना के लिए ही ऐसा अवसर मिला हो? आह! हम कुछ भी तो नहीं जानते हैं। लेकिन इतना तो फिर भी हमें ज्ञात है कि अंधेरी से अंधेरी रात के बाद भी सुबह होती है।
पुनश्चः
...को प्रेम।
और परिवार में सबको प्रणाम।
रमा सकुशल आ गई है।